रवीन्द्र-साहित्य : भाग २०

शेष वाणी

रोगशय्या : शेष वाणी
आरोग्य : जन्मदिन

•

अनुवादक

धन्यकुमार जैन

•

रवीन्द्र - साहित्य - मन्दिर
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता - ७

रवीन्द्र-साहित्यका
प्रत्येक भाग
एक पृथक
ग्रन्थ है

रवीन्द्र-साहित्यकी
समस्त रचनाएँ
मूल बंगलासे
अनूदित हैं

मूल्य
गत्तेकी मजबूत जिल्द २)
नरम लिम्प-जिल्द १॥=)

प्रकाशक
धन्यकुमार जैन और सौहित्र
पी-१५, कलाकार स्ट्रीट
कलकत्ता-७

मुद्रक
सुराना प्रिन्टिंग वर्क्स
४०२, अपर चितपुर रोड
कलकत्ता-७

जीवन-सन्ध्या

सन् १९४० के सितम्बर मासमें रवीन्द्रनाथ कालिंगपंग गये, और वहाँ २६ सितम्बरको अकस्मात् बहुत ज्यादा अस्वस्थ हो गये। २९ सितम्बरको अचेतन अवस्थामें उन्हें कलकत्ता लाया गया। लगभग डेढ़ महीने कलकत्ता रहनेके बाद कुछ स्वस्थ होनेपर वे शान्ति-निकेतन चले गये। 'रोगशय्यापर' और 'आरोग्य'की अधिकांश कविताएँ इसी समयकी रचना हैं। कविकी पुत्रवधू श्रीमती प्रतिमा ठाकुरने अपने 'निर्वाण' ग्रन्थमें लिखा है: "पिताजीकी चेतना धुधली-धुँधली रहती थी,– बीच-बीचमें सचेतन होते और फिर तन्द्राच्छन्न हो जाते। इस समयकी उनकी अधिकांश रचनाएँ मौखिक होती थीं; और जो उनके आस-पास रहते वे उन्हें तत्काल लिख लिया करते थे। 'आरोग्य'की कई कविताओंमें अपने निष्ठावान अनुरागी सेवक-सेविकाओंके प्रति उन्होंने अपना उद्गार प्रकट किया है।"

'रोगशय्या'की तीसरी कविता कालिंगपंगसे लौटनेके बाद प्रथम चेतना-प्राप्तिके समय रची गई थी। 'शेष वाणी'की कई कविताएँ उन्होंने स्वयं अपने हाथसे लिखी थीं। 'शेष वाणी'की आठवीं कविता 'विवाहके पाँचवें वर्षमें' श्रीमती नन्दिता देवीके व्याहकी पाँचवीं वर्षगाँठमें रची गई थी। चौदहवी कविता 'दुःखकी अँधिरिया रात' तक अपनी मौखिक रचआओंका उन्होंने स्वयं संशोधन कर दिया था; किन्तु शेष पन्द्रहवीं कविता 'अपनी सृष्टिका पथ कर रखा है आकीर्ण तुमने' के संशोधन करनेका उन्हें अवसर नहीं मिला। चौथी कविता 'कड़ी धूपकी लपटें हैं' और पाँचवीं 'फिरसे और-एक बार' इन दोनों कविताओंके सम्बन्धमें 'निर्वाण'में लिखा है: "इन दिनों वे जिस चौकीपर बैठते थे उसका थोड़ा-सा इतिहास है। जब वे दक्षिण-अमेरिकामें भाषण देने गये थे (१९२४ ई०) उस समय वहाँकी प्रसिद्ध लेखिका मैडम विक्टोरिया ओकम्पने, जो कविकी अत्यन्त अनुरक्त भक्त थीं, भारत लौटते समय यह चौकी कविको भेंट की थी। बहुत दिनोंसे वह बेकार पड़ी थी। किन्तु इस अन्तिम रुग्न-अवस्थामें फिर उन्होंने उस चौकीपर बैठना शुरू कर दिया था। प्रायः दिन-दिन-भर वे निद्रा या विश्रामके बाद उसी आसनपर बैठे रहते थे।"

'प्रथम शिथिल छन्दोमाला'

विश्वकी आरोग्य-लक्ष्मी हैं जिनके जीवनके अन्तःपुरमें
पशु-पक्षी तरु-लता
नित्य रत अदृश्य शुश्रूषा
जीर्णतामें मृत्यु-पीड़ितको
अमृतका सुधा-स्पर्श देकर
रोगका सौभाग्य लेकर, उनका आविर्भाव
देखा था जिन दो नारियोंमें
स्निग्ध निरामय-रूपमें,
छोड़े जाता हूँ उन्हींके लिए
अपटु लेखनीकी 'प्रथम शिथिल छन्दोमाला' यह।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : १ दिसम्बर १९४०

काव्य-सूची ग्रन्थके अन्तमें दी गई है

रोगशय्या

१

सुरलोकके नृत्य-उत्सवमें
यदि क्षण-भरके लिए
क्लान्त-श्रान्त उर्वशीसे
होता कहीं ताल-भङ्ग
देवराज करते नहीं मार्जना ।
पूर्वार्जित कीर्ति उसकी
अभिशापके तले होती निर्वासित ।
आकस्मिक त्रुटिको भी न करता कभी स्वीकार स्वर्ग ।
मानवके सभा-अङ्गनमें
वहाँ भी जाग रहा न्याय-विचार स्वर्गका ।
इसीसे मेरी काव्य-कला हो रही कुण्ठित है
ताप-तप्त दिनान्तके अवसादसे ;
डर है, हो न कहीं शैथिल्य उसके पदक्षेप-तालमें ।
ख्याति-मुक्त वाणी मेरी
महेन्द्रके चरणोंमें करता हूँ समर्पण
निरासक्त-मनसे जा सकूँ, बस, यही चाह है,
वैरागी रहे वह सूर्यास्तके गेरुआ प्रकाशमें ;
निर्मम भविष्य है, जानता हूँ, असावधानीमें दस्यु-वृत्ति करता है
कीर्तिके सञ्चयमें —
आज उसकी होती है तो होने दो प्रथम सूचना ।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : २७ नवम्बर १९४०

२

अनिःशेष प्राण
अनिःशेष मरणके स्रोतमें बह रहे,
पद-पदपर सङ्कटपर हैं सङ्कट
नाम-हीन समुद्रके न-जाने किस तटपर
पहुँचनेको अविश्राम खे रहा नाव वह,
कैसा है न-जाने शल्दय उसका पार होना
मर्ममें बैठा वह दे रहा आदेश है,
नहीं उसका शेष है।
चल रहे लाखों-करोड़ों प्राणी हैं,
इतना ही बस जानता हूँ।
चलते-चलते रुकते हैं, पण्य अपना किसको दे जाते हैं,
पीछे रह जाते जो लेनेको, क्षणमें वे भी नहीं रह पाते हैं।
मृत्युके कवलमें लुप्त निरन्तरका धोखा है,
फिर भी वह नहीं धोखेका, निबटते-निबटते भी रह जाता बाकी है;
पद-पदपर अपनेको करके शेष
पद-पदपर फिर भी वह जीवित ही रहता है।
अस्तित्वका महैश्वर्य है शत-छिद्र घटमें भरा—
अनन्त है लाभ उसका, अनन्त क्षति-पथमें भरा;
अविश्राम अपचयसे सञ्चयका होना आलस्य दूर,
शक्ति उसीसे पाना भरपूर।
गति-शील रूप-हीन जो है विराट,
महाक्षणमें है, फिर भी क्षण-क्षणमें नहीं है वह।
स्वरूप जिसका है रहना और नहीं-रहना,
मुक्त और आवरण-युक्त है,
किस नामसे पुकारूँ उसे अस्तित्व-प्रवाहमें—
नाम मेरा दिखाई दे विलीन हो जाता जिसमें!

३

अकेला बैठा हूँ यहाँ
यातायात-पथके तटपर।
बिहान-वेलामें गीतकी नाव जो
लाये हैं खेकर प्राणके घाटपर
आलोक-छायाके दैनन्दिन नाटपर,
सन्ध्या-वेलाकी छायामें
धीरेसे विलीन हो जाते वे।
आज वे आये हैं मेरे
स्वप्न-लोकके द्वारपर ;
सुर-हीन व्यथाएँ हैं जितनी भी
ढूँढ़ती फिरतीं अपना एकतारा वे।
प्रहरपर प्रहर बीतते ही जाते हैं,
बैठा-बैठा गिन ही रहा हूँ मैं
नीरव जप-मालाकी ध्वनि
नस-नसमें अन्धकारके।

कलकत्ता
३० अक्टोबर १९४०

४

अजस्र है दिनका प्रकाश,
जानता हूँ, एक दिन
आँखोंको दिया था ऋण।
लौटा लेनेका दावा जताया आज
तुमने, हे महाराज!

चुका देना होगा ऋण, जानता हूँ,
फिर भी क्यों सन्ध्या-दीपपर
डालते हो छाया तुम ?
रचा है तुमने जो आलोकसे विश्वतल
मैं हूँ वहाँ एक अतिथि केवल।
यहाँ वहाँ पड़ा हो यदि
किसी छोटी-सी दरारमें
न सही पूरा
टुकड़ा अधूरा—
छोड़ जाना पड़ा अवहेलनासे,
जहाँ तुम्हारा रथ
शेष चिह्न रख जाता है अन्तिम धूलमें
वहाँ रचने दो अपना संसार मुझे।
थोड़ा-सा रहने दो उजाला,
थोड़ी-सी छाया,
और कुछ माया।
छाया-पथमें लुप्त आलोकके पीछे
शायद पड़ा मिलेगा कुछ—
कणामात्र लेश
तुम्हारे ऋणका अवशेष।

कलकत्ता
३ नवम्बर १९४०

५

इस महाविश्वमें
चलता है यन्त्रणाका चक्र-घूर्ण,
होते रहते हैं ग्रह-तारा चूर्ण।

उत्क्षिप्त स्फुलिङ्ग सब
दिशा-विदिशाओंमें अस्तित्वकी वेदनाको
प्रलय-दुःखके रेणु-जालमें
व्याप्त करनेको दौड़ते फिरते हैं प्रचण्ड आवेगसे ।
पीड़नकी यन्त्रशालामें
चेतनाके उद्दीप्त प्राङ्गणमें
कहाँ शल्य-शूल हो रहे झंकृत,
कहाँ क्षत-रक्त हो रहा उत्सारित ?
मनुष्यकी क्षुद्र देह,
यन्त्रणाकी शक्ति उसकी कैसी दुःसीम है !
सृष्टि और प्रलयकी सभामें—
उसके वह्रिरस-पात्रने
किसलिए योग दिया विश्वके भैरवी-चक्रमें,
विधाताकी प्रचण्ड मत्तता—
इस देहके मृत्-भाण्डको भरकर
रक्तवर्ण प्रलापके अश्रु-स्रोतसे करती क्यों विप्लावित ?
प्रतिक्षण अन्तहीन मूल्य दिया है उसे
मानवकी दुर्जय चेतनाने,
देह-दुःख-होमानलमें
जिस अर्घ्यकी दी आहूति उसने—
ज्योतिष्ककी तपस्यामें
उसकी तुलना क्या है कहीं ?
ऐसी अपराजित-वीर्यकी सम्पदा,
ऐसी निर्भीक सहिष्णुता,
ऐसी उपेक्षा मरणकी,
ऐसी उसकी जययात्रा
वह्रि-शय्या रौंदकर पग-तले

दुःखके सीमान्तकी खोजमें
नाम-हीन ज्वालामय किस तीर्थके लिए है
यह सङ्ग-साथ, पथ-पथमें सेवाका
ऐसा उत्स आग्नेय-गह्वर भेदकर
पाथेय अनन्त प्रेमका !

कलकत्ता
४ नवम्बर १९४०

६

अरी ओरी, मेरी भोरकी चिरैया गौरैया,
कुछ-कुछ रहते-अँधेरेमें फटते ही पौ
नींदका नशा जब रहता कुछ बाकी तब
खिड़कीके काँचपर मारती तुम चोंच आकर,
देखना चाहती हो, 'कुछ खबर है क्या?'
फिर तो व्यर्थ झूठमूठको
चाहे-जैसे नाचकर
चाहे-जैसे चुहचुहाती हो ;
निर्भीक तुम्हारी पुच्छ
शासन कर सकल विघ्न-बाधाको करती तुच्छ ।
तड़के ही दोयलिया देती जब सीटी है
कवियोंसे पाती बख्शीश कुछ मीठी है ;
लगातार प्रहर-प्रहर-भर मात्र एक पञ्चम-सुर साधकर
छिपे-छिपे कोयलिया करती कैसी उस्तादी है—
ढकेल सब पक्षियोंको किनारे एक
कालिदाससे ले ली दादवाही उसीने नेक ।

परवाह नहीं करती हो उसकी जरा भी तुम,
मानती नहीं हो तुम सरगमके उतार और चढ़ावको।
कवि कालिदासके घरमें घुस
छन्दोभङ्ग चुहचुहाना, शोरगुल
मचातीं तुम किस कौतुकसे!
नवरत्न-सभाके कवि गाते जब अपना गान
तुम तब सभा-स्तम्भोंपर करती हो क्या सन्धान?
कवि-प्रियाकी तुम पड़ोसिन हो,
मुखरित प्रहर-प्रहर तक तुम-दोनोंका रहता साथ।
वसन्तका बयाना-दिया
नहीं यह तुम्हारा नाट्य,
जैसा-तैसा तुम्हारा नाच
उसमें नहीं कुछ है परिपाट्य।
अरण्यकी गायन-सभामें तुम जातीं नहीं सलाम ठोंक,
उजालेके साथ ग्राम्य-भाषामें सम्मुख-आलाप होता;
न-जाने क्या अर्थ उसका
नहीं है अभिधानमें—
शायद कुछ होगा अर्थ तुम्हारे स्पन्दित-हृदय-ज्ञानमें।
दायें बायें मोड़-मोड़ गरदनको
करती क्या मसखरी हो अकारण ही दिन-दिन-भर,
ऐसी क्या जल्दी है?
मिट्टीपर तुम्हारा स्नेह,
धूल ही में करतीं स्नान—
ऐसी ही उपेक्षित है तुम्हारी यह देह-सज्जा
मलिनता न लगती कहीं, देती न तुम्हें लज्जा।
बनाती हो नीड़ तुम राजाके घर, छतके किसी कोनमें,
दुबकाचोरी है ही नहीं तुम्हारे मनमें कहीं।

अनिद्रामें मेरी जब कटती है दुखकी रात
आशा मैं करता हूँ, द्वारपर तुम्हारा पड़े चंचु-घात।
अभीक और सुन्दर-चपल
तुम्हारी-सी वाणी सहज-प्राणकी
ला दो मुझे, ला दो,
सब जीवोंका आलोक दिनका
मुझे बुला लेता है,
अरी ओरी मेरी भोरकी चिरैया गौरैया!

कलकत्ता
प्रभात : ११ नवम्बर '४०

७

गहन इस रजनीमें
रोगीकी धुँधली दृष्टिने
देखा जब सहसा
तुम्हारा जाग्रत आविर्भाव,
ऐसा लगा, मानो —
आकाशमें अगणित ग्रह-तारे सब
अन्तहीन कालमें
मेरे ही प्राणोंका कर रहे स्वीकार भार।
और फिर, मैं जानता हूँ,
तुम चले जाओगे जब,
आतङ्क जगायेगी अकस्मात्
उदासीन जगत्‌की निःस्तब्धता।

कलकत्ता
गहन रात्रि : १२ नवम्बर '४०

८

लगता है मुझे ऐसा, हेमन्तकी दुर्भापा-कुज्झटिकाकी ओर
आलोककी कैसी-तो भर्त्सना एक
दिगन्तकी मूढ़ताको दिखा रही तर्जनी।
पाण्डुवर्ण हुआ आता सूर्योदय
आकाशके भालपर,
घनीभूत हो रही लज्जा है,
हिम-सिक्त अरण्यकी छायामें
हो रहा स्तब्ध है विहंगोंका मधुर गान।

कलकत्ता
१३ नवम्बर '४०

९

हे प्राचीन तमस्विनी,
आज मैं रोगकी विमिश्र तमिस्रामें
मन-ही-मन देख रहा –
कालके प्रथम कल्पमें, निरन्तर निविड़ अन्धकारमें
बैठी हो सृष्टिके ध्यानमें
कैसी भीषण अकेली हो,
गूँगी तुम, अन्धी तुम।
अस्वस्थ शरीरमें क्लिष्ट रचनाका जो प्रयास
उसीको तो देखा मैंने
अनादि आकाशमें।
पंगु रो-रो उठता है निद्राके अतलमें
आत्म-प्रकाशकी क्षुधा विगलित-लौह-गर्भसे
छिपे-छिपे जल उठती है गोपन-शिखाओंमें।

अचेतन मेरी ये उंगलियाँ
अस्पष्ट शिल्पकी माया बुनती ही जाती हैं ;
आदि-महार्णवके गर्भसे
अकस्मात् फूल-फूल उठते हैं
स्वप्नके प्रकाण्ड पिण्ड,
विकलाङ्ग असम्पूर्ण सब —
कर रहे प्रतीक्षा घोर अन्धकारमें
कालके दाहने हाथसे मिलेगी उन्हें कब पूर्ण देह,
विरूप कदर्य लेंगे सुसंगत कलेवर सब
नव सूर्यके आलोकमें ।
मूर्तिकार पढ़ देगा मन्त्र आकर,
धीरे-धीरे उद्घाटित करेगा वह
विधाताकी अन्तर्गूढ़ सङ्कल्पकी धाराको ।

कलकत्ता
प्रभात : १३ नवम्बर '४०

१०

मेरे दिनकी शेष छाया
विलानेपर मूल-तानमें —
गुंजन उसका रहेगा चिरकाल तक,
भूल जायेंगे उसके मानी सब ।
कर्म-क्लान्त पथिक जब ·
बैठेगा पथके किनारे कहीं
मेरी इस रागिणीका करुण आभास
स्पर्श करेगा उसे,
नीरव हो सुनेगा वह झुकाके सिर ;
मात्र इतना ही आभासमें समझेगा,

और न समझेगा कुछ –
'विस्मृत युगमें दुर्लभ क्षणोंमें
जीवित था कोई शायद,
हमें नहीं मिली जिसकी कोई खोज
उसीको निकाला था उसने खोज।'

कलकत्ता
प्रभात : १३ नवम्बर '४०

११

जगत्में युगोंसे हो रही जमा
सुतीव्र अक्षमा।
अगोचरमें कहीं भी एक रेखाकी होते ही भूल
दीर्घ कालमें अकस्मात् अपनेको कर देती वह निर्मूल।
नींव जिसकी चिरस्थायी समझ रखी थी मनमें
नीचे उसके हो उठता है भूकम्प प्रलय-नर्तनमें।
प्राणी कितने ही आये थे बाँधके अपना दल
जीवनकी रङ्गभूमिपर
अपर्याप्त शक्तिका लेकर सम्बल –
वह शक्ति ही है भ्रम उसका,
क्रमशः असह्य हो लुप्त कर देती महाभारको।
कोई नहीं जानता,
इस विश्वमें कहाँ हो रही जमा
दारुण अक्षमा।
दृष्टिकी अतीत त्रुटियोंका कर भेदन
सम्बन्धके दृढ़ रज्जुका कर रही वह छेदन;
इङ्गितके स्फुलिङ्गोंका भ्रम
पीछे लौटनेका पथ सदाको कर रहा दुर्गम।

प्रचण्ड तोड़-फोड़ चालू है पूर्णके ही आदेशसे ;
कैसी अपूर्व सृष्टि उसकी दिखाई देगी शेषमें —
चूर्ण होगी अवाध्य मिट्टी, बाधा होगी दूर,
ले-लेकर नूतन प्राण उठेंगे अंकुर ।
हे अक्षमा,
सृष्टिके विधानमें तुम जो हो शक्ति परमा ;
शान्ति-पथके काँटे हैं तुम्हारे पद-पातमें
विदलित होते हैं बार-बार आघात-आघातमें ।

कलकत्ता
१३ नवम्बर '४०

१२

सवेरे उठते ही देखा निहारकर
घर-भरमें चीजें बिखरी पड़ी हैं सब,
कागज कलम किताब कहीं-तो रखी हैं सब,
ढूँढ़ता फिरता हूँ, मिलती नहीं ढूँढ़े कहीं भी वे खुदको ही ।
मूल्यवान कहाँ क्या जमना है
बिखरा सब, न कहीं कोई समता है —
पत्र-शून्य लिफाफे पड़े हैं सब छिन्न-भिन्न
पुरुष-जातिके आलस्यका यही तो है शायद चिह्न ।
क्षणमें जब आ पहुँचे दो नारी-हस्त
क्षणमें ही जाती रहीं जितनी थीं त्रुटियाँ सब ।
फुरतीले हाथोंसे निर्लज्ज विशृङ्खलाके प्रति
ले आती शोभना है परम अपनी सद्गति ।
फटे-फटेके क्षत मिटते हैं, दागोंकी होती लज्जा दूर,
अनावश्यक शून नीड़ कहीं भी न बचता फिर ।

विशृङ्खल रहता और सोचता अवाक् हो—
सृष्टिमें 'स्त्री' और 'पुरुष'की बह रहीं धारा दो ;
पुरुष अपने चारों ओर जमाता है कूड़ा भारी,
नित्यप्रति बुहारी दे करती साफ़-सुथरा नारी ।

कलकत्ता
दोपहर : १४ नवम्बर '४०

१३

यदि दीर्घ दुःख-रात्रिने
अतीतके किसी प्रान्त-तटपर जा
नाव अपनी खेनी कर दी हो शेष तो—
नूतन एक विस्मयमें
विश्वजगत्के शिशुलोकमें
जाग उठे मुझमें उस नूतन प्रभातमें—
जीवनकी नूतन जिज्ञासा ।
पुरातन प्रश्नोंको उत्तर न मिलनेपर
अवाक् बुद्धिपर वे करते हैं सदा व्यङ्ग,
बालककी चिन्ता-हीन लीला-सम
सहज उत्तर मिल जाय उनका बस
सहज विश्वाससे—
ऐसा विश्वास जो अपनेमें रहे तृप्त,
न करे कभी कोई विरोध,
आनन्दके स्पर्शसे—
सत्यकी श्रद्धा और निष्ठा ला दे वह मनमें ।

कलकत्ता
प्रभात : १५ नवम्बर '४०

१४

नदीके किसी-एक कोनेमें सूखी-सड़ी डाली एक
स्रोतको पहुँचाये यदि बाधा तो -
स्वयं सृष्टि-शक्ति बहते-हुए कूड़ेसे
करती है प्रकट वहाँ रचनाकी चातुरी,-
छोटे द्वीप गढ़ती है, लाती खींच शैवाल-दल,
तीरका जो-भी-कुछ परित्यक्त सबको बटोर लेती है,
उपादान द्वीप-सृष्टिके ऐसे ही जुटाती वह ।
मेरे इस रोगीके छोटेसे कमरेमें
अवरुद्ध आकाशमें
वैसे ही चल रही सृष्टि है
सबसे निराली और स्वतन्त्र-स्वरूपमें ।
उसके कर्मका आवर्तन है
छोटी-सी सीमामें ।
माथेपर रखकर हाथ
देखते हैं, 'है क्या ताप ?'
उद्विग्न आँखोंकी दृष्टि बस करती है प्रश्न यही -
'आती क्यों नींद नहीं ?'
चुपकेसे दबे-पाँव
आता प्रकाश है नित्य प्रभातका ।
पथ्यकी थाली ले हाथमें परिचारिका
कर-करके बार-बार अनुरोध-उपरोध नित्य
पाती है विजय वह रुचिके विरोधपर ।
यत्न-हीन बिखरा रहता है जो-कुछ-भी
यत्नसे सजाती है उन-सबको नित्य वह
आँचलसे धूल-मिट्टी झाड़कर ।

निज हाथोंसे समान कर शय्याकी सिकुड़न सब
निज आसन तैयार कर रखती है सिरहानेपर
सेवा जो करनी है रात-भर जागकर।
बात यहाँ धीर-स्वरमें होती है;
दृष्टि यहाँ बाष्पसे स्पर्शित है,
स्पर्श यहाँ करुण और कम्पित है—
जीवनका यह रुद्ध स्रोत
अपने ही केन्द्रमें आवर्तित,
बाहरी संवादकी
धारासे विच्छिन्न है बहुत दूर।

किसी दिन आती जब बाढ़ है
शैवालका द्वीप बह जाता है; ऐसे ही—
परिपूर्ण जीवनकी आयेगी ज्वार जब
बह जायगा वैसे ही सेवाका नीड़ भी,
बह जायेंगे वैसे ही यहाँके ये—
दुख-पात्रमें सुधा-भरे गिनतीके नश्वर दिन।

'उदयन'
१९ नवम्बर १९४०

१५

अस्वस्थ शरीर यह
कौनसी अवरुद्ध भाषा कर रहा वहन है?
वाणीकी क्षीणता
मुह्यमान आलोकमें रच रही अस्पष्टकी कारा क्या?
निर्झर जब दौड़ता है परिपूर्ण वेगसे

बहुत दूर दुर्गमको करने जय—
गर्जन उसका तब
अस्वीकार करता ही चलता है गुफाके सङ्कीर्ण नातेको,
घोषित करता ही रहता है अधिकार निखिल विश्वका।
बल-हीन धारा उसकी होती है मन्द जब
वैशाखकी शीर्ण शुष्कतासे—
खोता तब अपनी वह मन्द्रध्वनि,
क्रमतम होता ही रहता है
अपनेमें अपना ही परिचय तब।
खण्ड-खण्ड कुण्डोंमें
क्लान्त-श्रान्त गतिस्रोत उसका विलीन हो जाता है।
वैसे ही मेरी यह रुग्न वाणी
आज खो बैठी है स्पर्धा अपनी,
नहीं है उसमें शक्ति सघिन इस जीवनकी—
ग्लानिको धिक्कार देनेकी।
आत्मगत क्लिष्ट जीवनकी कुहेलिका
विश्वकी दृष्टि उसकी कर रही हरण है।

हे प्रभात-सूर्य,
अपना शुभ्रतम रूप मैं
देखूंगा तुम्हारी ज्योतिके केन्द्रमें उज्ज्वलतर,
मेरे प्रभात-ध्यानको अपनी उग्र शक्तिसे
कर दो आलोकित,
दुर्बल प्राणोंका दैन्य
अपने हिरण्मय ऐश्वर्यसे
कर दो दूर,
पराभूत रजनीके अपमान-सहित।

१६

अवसन्न आलोककी
शरत्‌की सायाह्न-प्रतिमा –
असंख्य नक्षत्रोंकी शान्त नीरवता
स्तब्ध है अपने हृदय-गगनमें,
प्रति क्षणमें है निश्वसित निःशब्द शुश्रूषा ।
अन्धकार-गुफासे निकलकर
जागरण-पथपर
हताश्वास रजनीके मन्थर प्रहर सब
प्रभातके शुक्र-ताराकी ओर बढ़ते ही जाते हैं
पूजाके सुगन्धमय पवनका
हिम-स्पर्श लेकर ।
सायाह्नकी म्लानदीप्ति
उस करुणच्छविने
धारण किया है कल्याण-रूप
आज प्रभातकी अरुण-किरणमें ;
देखा, मानो वह आ रही धीरे-धीरे
आशीर्वाद लिये
शेफालि-कुसुम-रुचि प्रकाशके थालमें ।

१७

कब सोया था,
जागते ही देखी मैंने –
नारङ्गीकी टोकनी
पैरोंके पास पड़ी –
छोड़ गया है कोई ।

कल्पनाके पसार पंख
अनुमान उड़ा-उड़ा फिरता है
एक-एक करके नाना स्निग्ध नामोंपर ।
स्पष्ट जानूँ या न जानूँ मैं,
किसी अनजानको साथ ले
नाना नाम मिल रहे आकर
नाना दिशाओंसे ।
सब नाम हो उठे सत्य एक ही नाममें,
दानको हुई प्राप्त
सम्पूर्ण सार्थकता आज ।

'उदयन'
२१ नवम्बर १९४०

१८

संसारके नाना क्षेत्र और नाना कर्मोंमें
विक्षिप्त है चेतना —
मनुष्यको देखता हूँ यहाँ मैं विच्छिन्नके मध्यमें
परिव्याप्त रूपमें ;
कुछ है असमाप्त उसका और कुछ अपूर्ण भी ।
रोगीके कमरेमें घनिष्ट निविड़ परिचय है
एकाग्र लक्ष्यके चारों ओर,
कैसा नूतन विस्मय यह
दे रहा दिखाई है अपूर्व नव रूपमें ।
समस्त चित्तकी दया
सम्पूर्ण संहत उसमें है,
उसके कर-स्पर्शोंमें, उसके चिन्तित व्याकुल पलकोंमें ।

१९

सजीव खिलौने यदि
गढ़े जाते हों विधाताकी कर्मशालामें,
क्या दशा होगी उनकी—
यही कर रहा अनुभव मैं
आज आयु-शेषमें।
यहाँ ख्याति मेरी पराहत है,
उपेक्षित है गाम्भीर्य मेरा,
निषेध और अनुशासनमें
सोना उठना बैठना है।
'चुप रहो भी तो जरा',
'ज्यादा बोलना अच्छा नहीं',
'और भी कुछ खाना होगा'—
ये हैं आदेश निर्देश
कभी भर्त्सनामें, कभी अनुनयमें।
जिनके कण्ठसे ये निकलते हैं
परित्यक्त उनके खेल-घरमें
टूटे-फूटे खिलौनोंकी ट्रैजेडीमें
अभी तो कुछ ही दिन हुए, पड़ी है कैशोरकी यवनिका।
कुछ देर तो—
स्पर्धासे विरोध भी करता हूँ,
किन्तु फिर बनकर 'राजा-बेटा'
जैसे चलाते हैं वैसे ही चलता हूँ।
मनमें मैं सोचता हूँ,
वृद्ध भाग्य अपना शासन-भार
सौंपकर कुछ दिन नूतन भाग्यपर

दूर खड़ा कटाक्षसे हँसता है,
हँसा था जैसे बादशाह
आबूहुसेनका खेल
रचकर अन्तरालमें ।
अमोघ विधिके राज्यमें बार-बार हुआ हूँ विद्रोही ;
इस राज्यमें मान लिया है मैंने
उस दण्डको
सुकोमल है जो मृणालसे भी,
विद्युतसे भी स्पष्ट है
तर्जनी जिसकी ।

'उदयन'
प्रभात : २३ नवम्बर'४०

२०

रोग-दुःख-रजनीके निरन्ध्र अन्धकारमें
जिस आलोक-बिन्दुको देखता मैं क्षण-क्षणमें,
मन-ही-मन सोचता हूँ, क्या है निर्देश उसका ?
पथका पथिक जैसे खिड़कीके रन्ध्रसे
उत्सव-आलोकका पाता क्षुद्र खण्डित आभास है,
उसी तरह रश्मि जो अन्तरमें आती है
यही जताती है—
उठते ही घने आवरणके
दिखाई देगी अविच्छेद
देश-हीन काल-हीन आदि-ज्योति,
शाश्वत प्रकाश-पाराबार,
जहाँ करता सूर्य सन्ध्या-स्नान,

जहाँ उगते और खिलते हैं
नक्षत्र महाकाय बुद्बुद समान कितने,
वहाँ निशान्तका यात्री मैं
चल रहा चैतन्य-सागर-तीर्थ-पथमें ।

२१

सवेरे ज्यों ही खुली आँख
फूलदानीमें देखा गुलाब-फूल ;
प्रश्न उठे मनमें कुछ—
युग-युगान्तरके आवर्तनमें धर
सौन्दर्यके परिणाममें लाई जो शक्ति तुम्हें
बचाकर अपूर्ण और कुत्सितके पीड़नसे पद-पदपर
वह क्या अन्धी है, अथवा अन्यमनस्क है ?
वह भी क्या वैराग्य-व्रती साधु-संन्यासी सम
सुन्दर और असुन्दरमें भेद नहीं करती कुछ ?
उसके क्या केवल है ज्ञान-क्रिया, बल-क्रिया,
बोधका वहाँ क्या कुछ भी नहीं काम शेष है ?
कौन कर-करके तर्क कहते यह,—
सृष्टिकी सभामें तो
सुन्दर और कुत्सित
दोनों ही बैठे हैं समान एक आसनपर—
नहीं बाधा प्रहरीकी वहाँ किसी प्रकारकी ।
मैं हूँ कवि, तर्क नहीं जानता मैं,
मेरी दृष्टि देखती है विश्वको समग्र स्वरूपमें—
कोटि-कोटि ग्रह-तारा अनन्त आकाशमें
लिये-लिये फिरते हैं विश्वकी सुषमाको,
होता नहीं छन्द भङ्ग, सुर भी कहीं रुकता नहीं,

न विक्लान्ति न स्खलन कहीं ;
वो देखो, आकाशमें दे रहा दिखाई स्पष्ट
स्तर-स्तरमें फैलाकर पँखड़ियाँ
ज्योतिर्मय विश्वव्यापी
विराट गुलाब है !

'उदयन'
प्रभात : २४ नवम्बर '४०

२२

दिनके मध्याह्नमें
आधी-आधी नींद थी, आधा-आधा जागरण,
सम्भव है सपनेमें देखा था —
मम सत्ताका आवरण
केंचुली सा उतरा और जा पड़ा
अज्ञात नदी-स्रोतमें
साथ लिये मेरा नाम, मेरी ख्याति,
कृपणका सञ्चय था जितना-कुछ
कलङ्ककी लिये ग्लानि
मधुर क्षणोंके हस्ताक्षर :
गौरव और अगौरव
लहरों-लहरोंमें बह जाता सब,
उसे न वापस ला सकता अब ;
मन-ही-मन करता तर्क —
मैं हूं 'मैं-शून्य' क्या !
जो-कुछ भी खोया मेरा, उससे मुझे
सर्वाधिक वेदनाकी चोट लगी किसके लिए !

अतीत नहीं मेरा वह
सुख-दुखमें जिसके साथ
काटे दिन, काटीं रात।
मेरा वह भविष्य है
जिसे मैंने पाया नहीं कभी किसी कालमें,
जिसमें मेरी आकांक्षाने
वैसे ही जैसे बीज भूमि-गर्भमें
अङ्कुरित आशा लिये
अनागत-आलोककी चाहमें
देखा था दीर्घ-स्वप्न दीर्घ-विस्तृत रातमें।

'उदयन'
अपराह्न : २४ नवम्बर '४०

२३

आरोग्यकी राहमें
पाया जब मैंने सद्य
प्रसन्न प्राणोंका निमन्त्रण,
दान किया उसने मुझे
नव-दृष्टिका विश्व-दर्शन।
प्रभातके आलोकमें मग्न है वह नीलाकाश
पुरातन तपस्वीका
ध्यानासन,
कल्पके आरम्भका
अन्तहीन प्रथम मुहूर्त-क्षण
प्रकाशित कर दिया उसने
आज मेरे सामने ;

समझ गया उसी क्षण,
यही एक जन्म मेरा
नये-नये जन्मोंके सूत्रमें है गुँथा-हुआ ।
सप्त-रश्मि सूर्यालोक-सम
वहन कर रहा एक दृश्य
अदृश्य अनेक सृष्टि-धाराको ।

'उदयन'
प्रभात : २५ नवम्बर '४०

२४

भोरसे ही देखा आज निर्मल आलोकमें
शान्ति-अभिषेक निखिलका,
नतमस्तक हो वृक्षोंने प्रचार किया धरणीका नमस्कार नम्र,
जो शान्ति विश्वके मर्ममें है प्रतिष्ठित ध्रुव
उसने की है रक्षा उनकी बार-बार
युग-युगान्तरके आघात-संघातमें ।
विक्षुब्ध इस मर्त्यभूमिमें
सूचित किया करती है शान्ति निज आविर्भाव
दिवसके आरम्भ और शेषमें ।
पत्र उसके पा तो गये, कवि, माङ्गलिक !
वह यदि अमान्य करे व्यङ्ग-वाहक बन
विकृतिके सभासद्-रूपमें
दूत चिर-नैराश्यका,
टूटे-हुए यन्त्रके सुर-हीन झङ्कारमें
व्यङ्ग करे इस विश्वके शाश्वत सत्यको,
तो उसकी आवश्यकता क्या !

खेतोंमें घुसके झाड़ काँटोंके
करते अपमान क्यों मानवकी अन्न-क्षुधाका ?
स्वप्न यदि कहता रहे रोगको चरम सत्य,
उसकी उस स्पर्धाको समझूँगा लज्जा ही —
उससे तो अच्छा है विना-बोले कुछ
चुपकेसे आत्महत्या करना ही ।
मनुष्यका कवित्व ही
होगा कलङ्कभाजन अन्तमें
असंस्कृत मनमाने पथपर चल ।
करेगी क्या प्रतिवाद भला
स्वयंसुन्दर मुखश्रीका
निर्लज्ज 'नकली-चेहरे'की नकल ?

'उदयन'
प्रभात : २६ नवम्बर '४०

२५

जीवनके दुःख-शोक-तापमें
वाणी एक ऋषिकी ही समाई मेरे चित्तमें
दिन-दिन होती ही रही वह उज्ज्वलसे उज्ज्वतर —
'विश्वका प्रकाश है आनन्द-अमृत-रूपमें ।'
अनेक क्षुद्र विरुद्ध-प्रमाणोंसे
महानको करना खर्व सहज एक पटुता है ।
अन्तहीन देश और कालमें महिमा है परिव्याप्त
दिव्य सुन्दर सत्यकी,
देखता जो द्रष्टा उसे अखण्ड-रूपमें
इस जगतमें उसीका जन्म सार्थक है ।

२६

अपनी इस कीर्तिपर करता न विश्वास मैं।
जानता हूँ,
काल-सिन्धु इसे
निरन्तर निज तरङ्ग-आघातसे
दिनपर दिन करता ही रहेगा लुप्त।
अपना विश्वास मेरा निजमें है, अपनेमें।
दोनों साँझ भर-भर उस पात्रमें
इस विश्वकी नित्य-सुधाका
किया है मैंने पान।
क्षण-क्षणका मेरा प्रेम
उसमें ही होता रहा सञ्चित है।
किया नहीं विदीर्ण दुःख-भारने,
मलिन नहीं किया कभी धूलिने
उसकी शिल्प-कलाको।
यह भी है ज्ञात मुझे,
संसार-रङ्गभूमिको
जाऊँगा छोड़ जब
देंगे गवाही सब
ऋतु-ऋतुमें पुष्पोद्यान—
किया है मैंने प्यार निखिल इस विश्वको।
प्रेम ही यह सत्य है, दान इस जन्मका।
लेते समय विदा
अम्लान हो यह सत्य मेरा
करेगा उपेक्षा
अस्वीकार मृत्युको।

२७

खोल दो, द्वार खोल दो ;
करो अवारित नीलाकाश ;
कौतूहली पुष्प-गन्धको करने दो प्रवेश मेरे कक्षमें ;
प्रथम-आलोक सूर्य-किरणोंका
होने दो सञ्चार सर्वदेहकी शिराओंमें ;
'मैं जीवित हूँ', यह वाणी अभिनन्दनकी
हो रही मर्मरित जो पल्लव-पल्लवमें,
मुझे सुनने दो ;
यह प्रभात
ढक देने दो इसे अपने उत्तरीयसे मेरा मन,
जैसे वह ढक देता है नव-शस्य-श्यामल प्रान्तरको ।
प्रेम जितना भी पाया है अपने इस जीवनमें
उसकी ही निःशब्द भाषा
सुन रहा आकाश और वातासमें ;
उसके-पुण्य-अभिषेकमें करूँगा स्नान मैं ।
समस्त जन्मके सत्यको एक रत्नहार-रूपमें
शोभित मैं देख रहा उस नीलिमाके कण्ठमें ।

'उदयन'
प्रभात : २८ नवम्बर '४०

२८

चैतन्य-ज्योति जो
प्रदीप्त है मेरे अन्तर-गगनमें
नहीं वह 'आकस्मिक बन्दिनी' प्राणोंकी सङ्कीर्ण सीमामें,
आदि जिसका शून्यमय, अन्तमें मृत्यु जिसकी निरर्थक है,

मध्यमें कुछ क्षण
'ओं-कुछ-दें' उसका अर्थ करती यह द्युयामिन।
'यह चैतन्य विराजित है अनन्त आकाशमें
आनन्द अमृतके रूपमें'—
प्रभातके जागरणमें
ध्वनित हो उठी आज यही एक वाणी मेरे मर्ममें,
यह वाणी गूंथती चलती है सूर्य-ग्रह-तारोंको
अस्खलित छन्द-सूत्रमें अनिःशेष सृष्टिके उत्सवमें।

२६

दुःसह दुःखके घेरेमें
मानवको देख रहा निरुपाय निरसहाय,
समझमें न आता कुछ
कहाँ उसकी सान्त्वना है।
अपनी ही मूढ़तामें, निज रिपुओंके प्रश्रयमें
इस दुःखका मूल है, जानता हूँ;
किन्तु उस जाननेमें आश्वास नहीं पाता हूँ।
जान जाता यह बात जब—
'मानव-चित्तकी साधनामें
गूढ़ है रूप जो सत्यका
वह सत्य सुख-दुःख सबके अतीत है',
समझ जाता तब—
निज आत्मामें करते जो
कल्याण उसे
वे ही हैं चरम सत्य मानवकी सृष्टिके;
एकमात्र वे ही हैं, और कोई नहीं;

और जो हैं वे सब
मायाके प्रवाहमें छाया-समान हैं—
दुःख उनका सत्य नहीं,
सुख उनका विड़म्बना-मात्र,
उनकी क्षत-पीड़ा धारण कर दारुण-आकृति
प्रतिक्षण लुप्त होती रहती है,
इतिहास न रखता उनका कहीं कोई चिह्न तक।

'उदयन'
प्रभात : २९ नवम्बर '४०

३०

सृष्टिका चल रहा खेल है
चारों ओर शत-सहस्र धारामें
कालका असीम शून्य पूर्ण करनेको।
सामने जो-भी-कुछ ढालता है,
पीछे अतल-तलमें जा विलीन हो जाता वह बारम्बार,
निरन्तर लाभ और क्षति,
इन्हींसे मिलती है उसे गति।
कविका खेल है छन्दका, वह भी तो रह-रहकर
निश्चिह्न कालकी देहपर अङ्कन है चित्रोंका।
काल चला जाता है, पड़ा रह जाता शून्य।
यह 'लिखना-मिटाना' जो है काव्यकी सचल मरीचिका
वह भी छोड़ देती स्थान,
परिवर्तमान
जीवन-यात्राकी करती रहती है चलमान टीका।
मनुष्य निज अङ्कित कालकी सीमामें

सान्त्वना रचता है असीमकी मिथ्या महिमासे,
भूल जाता वह, न-जाने कितने युगोंका प्राणी-रूप
भूमिगर्भमें बह रहा निःशब्दका निष्ठुर विद्रूप।

३१

आजकी अरण्य-सभाको
अपवाद देते हो बार-बार ;
दृढ़ कण्ठसे कहते जब अदंगृत आप्तवाक्य-वत्
प्रकृतिका अभिप्राय है, 'नवीन भविष्यत्
गायेगा विरल-रागमें शुष्कताका गान',
वन-लक्ष्मी न करेगी अभिमान।
जानते हैं सभी इस बातको –
जिस सङ्गीतके रस-पानमें
प्रत्येक प्रभातमें
आनन्दमें मत्त होती आलोक-सभा,
वह तो हेय है
और अश्रद्धेय है,
प्रमाणित करनेमें इसे और-भी बीतेगा दीर्घकाल
ऐसे ही, इसी एक-रूपमें।
तब तक वनके विहङ्ग
संशय-विहीन हो
चिरन्तन वसन्तकी स्तव-गाथासे
आकाशको करेंगे पूर्ण
अपने आनन्दित कलरवसे।

'उदयन'
प्रभात : ३० नवम्बर '४०

३२

नित्य ही प्रभातमें पाता हूँ प्रकाशके प्रसन्न स्पर्शमें
अस्तित्वका स्वर्गीय सम्मान मैं,
ज्योतिःस्रोतमें मिल जाता है रक्तका प्रवाह मेरा,
चुपकेसे ध्वनित हो उठती है वाणी ज्योतिष्ककी देह और मनमें।
प्रतिदिन ऊपरको दृष्टि किये
बिछाये ही रहता हूँ आँखोंकी अञ्जलि मैं।
प्रकाश यह दिया मुझे इस जन्मकी प्रथम अभ्यर्थनाने,
अस्त-सागरके इस आलोकके द्वारपर
बना रहेगा मेरा जीवनका निवेदन-शेष।
लगता है ऐसा कुछ –
वृथा वाक्य कहता हूँ, पूरी बात कह न सका ;
आकाश-वाणीके साथ आत्माकी वाणीका
बँधा नहीं स्वर अभी पूर्णताके स्वरमें,
करूँ क्या, भाषा जो मिली नहीं!

'उदयन'
प्रभात : १ दिसम्बर '४०

३३

बहुत दिन पहले तुमने दी थी एक बत्ती-धूप,
आज उसके धुएँमेंसे निकल रहा सुन्दर रूप ;
मानो किसी पौराणिक आख्यानमें
स्तब्ध मेरे ध्यानमें
धीर पद-क्षेपसे आई कोई मालविका
लिये शुभ्र दीप-शिखा

महाकाल-मन्दिरके द्वारपर
न-जाने किस युगान्तके पारपर।
आई हो सद्य स्नान करके तुम
तुम्हारी सिक्त वेणी लिपट गई ग्रीवासे,
मृदु गन्ध आती चन्दनकी
भालकी बयारसे।
ऐसा जान पड़ता है,
हो तुम पुजारिनी,
बार-बार देखा तुम्हें,
परिचय हुआ बार-बार,
आतीं तुम मृदु-मन्द पद-क्षेपसे
चिरकालकी वेदी-तले
चुन-चुनकर पुष्प नाना पूजाके
शुचि-शुभ्र वसनके अंचलमें।
शान्त स्निग्ध आँखोंकी दृष्टिमें
पौराणिक वाणीको वहन कर लातीं तुम
वर्तमान-युगकी भाषाकी इस सृष्टिमें।
सुललित हाथोंके कंकणमें
कामना है प्रिय-जन-कल्याणकी।
आत्म-विस्मृत तुम्हारी प्रीति
आदि-सूर्योदयसे
बहा लाती धारा है उज्ज्वल प्रकाशकी।
सुदूर कालसे हो आये सेवा-रत तुम्हारे हाथ
भाग्य ललाट मेरा आज भी वे करते स्पर्श।

'उदयन'
प्रभात : २ दिसम्बर '४०

३४

अपनी वीणामें अन्यमनस्क सुरमें जब
बाँधा था गान अपना अकेले ही बैठकर
तब भी तो तुम थीं दूर,
दिये नहीं दर्शन तक
कैसे मैं जानूँ आज मेरे वे ही गान
अपरिचयके तटपर जा तुम्हींको करते सन्धान !
देखा आज, ज्यों ही तुम आईं पास
तुम्हारी गलिके तालमें बज उठी मेरी यह छन्दध्वनि ;
जान पड़ा, सुरके उस मेलमें
उच्छ्वसित हो उठा आनन्दका निश्वास इस निखिलमें ।
सालों-साल पुष्पवनमें नाना पुष्प खिलते और झरते हैं
सुरके उस मिलनपर ही मरते हैं ।
फैलाके अञ्जली कविके सङ्गीतमें जाग रही वाणी है
अनागत-प्रसादकी साधमें ।
चल रहा खेल लुकाचोरीका अनिवार इस विश्वमें
अपरिचितके साथ अपरिचितका ।

'उदयन'
प्रभात : २ दिसम्बर '४०

३५

आँधी-तूफ़ानके बाद जैसे
आकाशका वक्षःस्थल करता अवारित है
उदयाचलका ज्योतिःपथ
गभीर निस्तब्ध नीलिमामें,

वैसे ही मुक्त हो
जीवन मेरा
अतीत-बाष्प-जालसे,
नव-नव जागरण
कर उठे त्वरा शङ्खध्वनि
इस जन्मके नव-जन्म-द्वारपर ।
कर रहा प्रतीक्षा मैं —
पुँछ जाय रंगका प्रलेप यह उज्ज्वल प्रकाशसे,
मिट जाय खेल यह व्यर्थका
खिलौना बना अपनेको,
निरासक्त मेरा प्रेम अपने ही दाक्षिण्यसे
पा जाय निज शून्य छोर ।
आयुके स्रोतमें बहता चला जाऊँ जब
अँधेरे-उजालेमें,
तट-तटपर देखता फिरूँ न मैं
मुड़-मुड़कर अपनी अतीत कीर्तिको ;
अपने सुख-दुखमें
निरन्तर जो लिप्त 'मैं'
अपनेसे बाहर कर सकूँ उसकी स्थापना
संसारकी प्रवहमान लक्ष-कोटि घटनाओंकी समान-एक-श्रेणीमें,
निस्पृह निरपेक्ष द्रष्टाकी दृष्टिसे देखूँ उसे
अनात्मीय-निर्णयके रूपमें ।
यही मेरी शेष वाणी,
कर दे सम्पूर्ण मेरे परिचयको आशिष शान्त क्षमा ।

'उदयन'
प्रभात : ३ दिसम्बर '४०

३६

जो-कुछ भी चाहा था एकान्त आग्रहसे
उसके चारों ओरसे
बाहुका वेष्टन जब होता दूर,
तब बन्धनसे मुक्त उस क्षेत्रमें
जो चेतना उद्भासित हो उठती है
प्रभात-किरणोंके साथ
देख रहा उसका अभिन्न स्वरूप आज।
शून्य है, तो भी वह-तो शून्य नहीं।
तभी समझ जाता हूँ ऋषिकी वाणी यह–
आकाश आनन्दपूर्ण होता नहीं कहीं तो
देह-मन-प्राण हो जाते निश्चल सब जड़त्व-नागपाशमें।
'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'

'उदयन'
प्रभात : ३ दिसम्बर '४०

३७

धूसर गोधूलि-लग्नमें सहसा देखा एक दिन
मृत्युकी दक्षिण-बाहु जीवनके कण्ठसे लिपटी है,
रक्त-सूत्रसे वह बँधी है ;
उसी क्षण पहचान गया जीवन और मरणको।
देखा फिर, ले रही यौतुक है मरण-वधू, वरका जो चरम दान ;
दक्षिण-बाहुमें लिये चली जा रही युगान्तरकी ओर वह।

'उदयन'
प्रभात : ४ दिसम्बर '४०

३८

धर्मराजने दिया जब ध्वंसका आदेश तब
अपनी हत्याका भार लिया अपने ही हाथमें मानव-समाजने।
पीड़ित मनसे सोचा है बार-बार,
'पथभ्रष्ट पथिक मदके अकस्मात् अपघातसे
एक ही विशाल चितानलमें क्यों नहीं जलती आग
एक महा-सहमरणकी !'
अब फिर सोचता हूँ, हाय,
दुःख-शोक-तापसे पापोंका हुआ नहीं क्षय तो –
प्रलयके भस्म-क्षेत्रमें बीज उसका पड़ा ही रहेगा गुप्त,
कण्टकित हो उठेगी छाती फिर नवीन सृष्टिकी।

३९

तुम्हें देख नहीं पाता तो अनुभूति होती छवि-युक्त आर्त कल्पनामें,
पाँव-तले धरती आज चुपचाप कर रही गुप्त मन्त्रणा
स्थानच्युत होगी यह, खिसक-खिसक जायगी, है जहाँ यहाँसे।
इसीसे पकड़ना चाहता मन उत्कण्ठित हो आकाशको
ऊपर उठाके हाथ दोनों बाँहसे।
चौंक उठता अचानक ही, स्वप्न जाता टूट मेरा ;
देखूँ तो, मस्तक झुकाये तुम कर रही सुनाई कुछ बैठी-बैठी सामने,
करके समर्पन तुम मानो कह रही हो, 'अमोघ है शान्ति सृष्टिकी।'

'उदयन'
प्रभात : ५ दिसम्बर १९४०
हिन्दी-अनुवाद : माघ २००८

आरोग्य

बहुत लोग आये थे जीवनके प्रथम प्रभातमें —
कोई, साथी खेलके कोई थे कुतूहली,
कोई साथ देने कामसें, कोई बाधा देनेको।
आज जो हो पास मेरे इस निःस्व-प्रहरमें,
परिश्रान्त प्रदोषके अवसन्न निस्तेज प्रकाशमें,
तुम तो सब आये हो निज दीप ले-ले हाथमें,
'पारकी-नाव' छूटनेके पहले तटका बिदाई-स्पर्श देनेको।
तुम सभी हो पथिक-बन्धु,
रातके तारे मानो
अन्धकारमें लुप्त-पथ यात्रीके शेष विलम्ब क्षणोंमें।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : ४ फरवरी १९४१

आरोग्य

१

विराट मानव-चित्तमें
अकथित वाणी-पुञ्ज
अव्यक्त आवेगसे आवर्तन करता है कालसे कालमें
नीहारिका-सम महाशून्यमें ।
मेरी मनःसीमाके
सहसा आघातसे होकर छिन्न वाणी वह
घनीभूत हुई है रूपके आकारमें,
आवर्तन कर रही मेरे रचना-कक्ष-पथमें वह ।

'उदयन'
प्रभात : ५ दिसम्बर '४०

२

ख्याति-निन्दा पार करके आया आज जीवनके प्रदोषमें,
बैठा हूँ बिदाईके घाटपर ।
अपनी इस देहपर असंशय
किया था विश्वास मैंने,
'जरा'का मौका पा आज वह
कर रही अपना ही परिहास है,
सभी कामोंमें देखता हूँ अब तो वह
बार-बार घटाती है विपर्यय
मेरे कर्तृत्वको कर रही सदा क्षय ;

बचानेको मुझे उस अपमानसे
दे रहे अविश्राम पहरा जो,
आस-पास खड़े हैं जो दिनान्तका आयोजन शेष ले,
बताऊँ या न बताऊँ नाम उनका,
मनमें है स्थान उनका,— याद रहेंगे वे।
दिया है उन्होंने सौभाग्यका परिचय शेष
भुलाये रखा है मुझे दुर्बल प्राणके पराजयसे ;
करते हैं स्वीकार वे इस बातको —
ख्याति-प्रतिष्ठा तो सुयोग्य समर्थोंके लिए ही है ;
वे ही तो कर रहे प्रमाणित हैं —
जन्मके भाग्यमें है जीवनका श्रेष्ठ जो है वही दान।
जीवन-भर ख्यातिका 'खजाना' देना पड़ता है,
माफी नहीं, छूट नहीं, नहीं फारखती है,
अपचयका लेश नहीं सहती यह, ऐसी जमींदारी है।
समस्त शून्य समाप्त हो जानेपर
जो दैन्य रहता है अर्घ्य प्रेमका
असीमके स्वाक्षर तो वही विद्यमान हैं।

'उदयन'
प्रभात : ९ जनवरी १९४१

२

परम सुन्दर
आलोकके स्नान-पुण्य प्रातमें।
असीम अरूप
रूप-रूपमें स्पर्शमणि
कर रहा रचना है रस-मूर्तियाँ,

प्रतिदिन
चिर-नूतनका अभिषेक होता
चिर-पुरातनकी वेदी-तले।
नीलिमा और श्यामल ये दोनों मिल
धरणीका उत्तरीय रहे हैं बुन
छाया और आलोकसे।
आकाशका हृदय-स्पन्दन
तरु-लताके प्रति-पल्लवको झूला झुलाता है।
प्रभातके कण्ठमें मणि-हार झिलमिलाता है।
वनसे वनान्तरमें
विहङ्गोंका अकारण गान
साधुवाद देता ही रहता है जीवन-लक्ष्मीको।
सब-कुछ मिल एकसाथ मानवका प्रेम-स्पर्श
देता है अमृतका अर्थ उसे,
मधुमय कर देता है धरणीकी धूलिको,
यत्र-तत्र सर्वत्र ही बिछा देता है
सिंहासन चिर-मानवका।

'उदयन'
दोपहर : १२ जनवरी '४१

६

नगाधिराजके सुदूर नारङ्ग-निकुञ्जके रसपात्र सब
ले आये हैं मेरी शय्याके निकट अब,
जन-हीन प्रभात-रविकी मित्रता,
अज्ञात निर्झरिणीके
विच्छुरित आलोकच्छटाकी
हिरण्मय लिपि,

सुनिविड़ अरण्य-वीथिकाके
निःशब्द-मर्मर-विजड़ित
स्निग्ध हृदयके दौत्यको ।
रोग-पंगु लेखनीकी विरल भाषामें
इसीलिए भेजता है कवि
सन्देश आशीर्वादका ।

५

नारी, तुम हो धन्या —
घर है, घराना है, घरका काम-धन्धा ।
उसमें रख छोड़ी है दरार कुछ थोड़ी-सी ।
वहींसे बाहरी दुर्बलोंकी सुन लेती पुकार हो ।
लाती हो शुश्रूषाकी डाली ले,
स्नेह उँडेल देती हो ।
जीव-सृष्टिके मनमें जो पालनकी शक्ति है विद्यमान,
नारी तुम नित्य ही सुना करती हो उसका आह्वान ।
सृष्टि-विधाताका
लिया है कार्य-भार,
तुम हो नारी,
उनकी निजी-सहकारी ।
सम्मुख करती रहती हो आरोग्यका पथ,
नित्य नवीन करती रहती हो जीर्ण यह जगत,
श्रीहीन जो हैं उनके प्रति सीमा नहीं तुम्हारे धैर्यकी,
अपने अभाग्यसे वे ही वंचित रहे हैं दया तुम्हारी,
बुद्धिभ्रष्ट [illegible] करते हैं बार-बार अपमान तुम्हारा,
आँसू पोंछकर फिर भी तुम करती हो क्षमा उन्हें देकर सहारा ।

अकृतज्ञताके द्वारपर आघात सहती हो दिन-रात,
सब-कुछ देती हो झुका मस्तक और फैला हाथ।
जो अभागा आता नहीं किसी काममें,
जिसे फेंक देती है प्राण-लक्ष्मी घूरेमें,
उसे भी लाती हो उठाकर तुम,
लाञ्छनाका ताप उसका मिटाती हो
अपने स्निग्ध हाथसे।
देवताकी पूजा-योग्य तुम्हारी सेवा है मूल्यवान
अनायास ही उसे तुम अभागेको करतीं दान।
विश्वकी पालनी-शक्तिकी धारिका हो तुम शक्तिमती
माधुरीके रूपमें।
भ्रष्ट जो हैं, भग्न जो हैं, विरूप और विकृत हैं जो,
उनके लिए तुम हो अमृत सुन्दरके हाथका।

'उदयन'
प्रभात : १३ जनवरी '४१

६

रोग और जरामें जब इस देहसे
दिनपर दिन सामर्थ्य झरता ही रहता है
यौवन तब पुराने इस नीड़को धोखा दे
पड़ा पीछे छोड़ जाता है,
केवल शैशव ही बाकी रह जाता है।
आबद्ध घरमें कार्य-क्षुब्ध संसारके बाहर कहीं
अशक्त यह शिशु-चित्त
'मा' ही 'मा' ढूँढ़ता फिरता है।
वित्त-हीन प्राण लुब्ध हो उठते हैं
विनामूल्य स्नेहका प्रश्रय किसीसे भी पानेको।

१०

चुपके-चुपके आ रही है हिंस्र रात,
गलबल शरीरका शिथिल अर्गल तोड़
कर रही प्रवेश यह अन्तरमें,
कर रही हरण है जीवनका गौरव-रूप।
कालिमाके आक्रमणसे पराजय मान लेता मन।
पराभवकी लज्जा यह, अवसादका यह अपमान
हो उठता जब पुञ्जीभूत,
सहसा दिगन्तमें देती दिखाई है –
स्वर्ण-किरण-रेखा-अंकित दिनकी पताका एक ;
आकाशके न-जाने किस सुदूर केन्द्रसे
उठती है ध्वनि एक, 'मिथ्या है, मिथ्या है।'
प्रभातके प्रसन्न प्रकाशमें
दुःख-विजयीको देखता हूँ मूर्त्ति एक
अपने ही जीर्ण-देह-दुर्गके शिखरपर।

'उदयन'
प्रभात : २७ जनवरी '४१

११

शुष्क वातायनके पास अनमन्य घरमें
बैठा मैं रहता हूँ निस्तब्ध प्रहरमें,
बाहर स्पन्दन-छन्दमें चल रहा है गान
मानो आ रहा हो भरनोंके प्राणोंका आह्वान ;
अन्तके [illegible]-स्रोतमें
फिर बहता चला जाता है
दिगन्तके नीलाभ [illegible] ।

किसकी ओर भेजूँ मैं अपनी स्तुति
व्यग्र मनकी व्याकुल प्रार्थना ?
अमूल्यको मूल्य देनेको ढूँढ़ता फिरता मन वाणी-रूप,
रहता है सदा चुप,
कहता है, 'मैं हूँ आनन्दित', यहीं रुक जाता छन्द,
कहता है, 'मैं हूँ धन्य।'

१२

इस जीवनमें पाया है सुन्दरका मधुर आशीर्वाद,
मनुष्यके प्रीति-पात्रमें उसीकी सुधाका पाता मैं मधुर स्वाद।
दुःसह दुःखके दिनोंमें
अक्षत अपराजित आत्माको लिया है पहचान मैंने।
आसन्न मृत्युकी छायाका जिस दिन किया अनुभव
उस दिन भयके हाथसे हुआ नहीं दुर्बल पराभव।
महत्तम मनुष्यके स्पर्शसे हुआ नहीं वञ्चित मैं,
उनकी अमृत-वाणी की है सञ्चित मैंने आत्मामें।
जीवन-विधाताका जो दान मिला मुझे इस जीवनमें
उसीकी स्मरण-लिपि छोड़े जाता हूँ कृतज्ञ मनसे मैं।

'उदयन'
सन्ध्या : २८ जनवरी '४१

१३

प्रेम आया था एक दिन तरुण-अवस्थामें
बहकर निर्झरके प्रलाप-कल्लोलमें,
अज्ञात शिखरसे
सहसा एक विस्मय ढो लाया वह
भ्रूभङ्गित पाषाणका निश्चल निर्देश लाँघकर

उच्छल परिहाससे,
पवनको कर धैर्यच्युत,
परिचय-धारामें तरंगित हो लाया यह अपरिचितकी
अचिन्त्य रहस्य-भाषाको,
चारों ओर स्थिर है जो-भी-कुछ परिमित नित्य-प्रत्याशित
उसीमें शुरू कर धावमान विद्रोहकी धाराको।

आज वही प्रेम स्निग्ध सान्त्वनाकी स्तब्धतामें
नीरव निःशब्द हो पड़ा है प्रच्छन्न गंभीरतामें।
चारों ओर निखिलकी विशाल शान्तिमें
आ मिला है यह सहज मिलनमें,
तपस्विनी रजनीके नक्षत्र-आलोकमें उसका आलोक है,
पूजा-रत अरण्यके पुष्पार्घ्यमें उसकी है माधुरी।

'उदयन'
मध्याह्न : ३० जनवरी '४१

१४

घण्टा बज उठा दूर कहीं।
नगरकी अभ्रभेदी आत्म-घोषणाकी
मुखरता मनसे हो गई दूर,
आतप्त माघकी धूपमें अकारण देखा चित्र एक
जीवन-यात्राके प्रान्तमें जो अनतिगोचर था।

गूँथ-गूँथ ग्रामोंको गैलोंकी धूपछाँहमें
चलती चली गई है न-जाने कितनी दूर तक
कहीं-कहीं नदी-तटका सहारा ले।

प्राचीन अश्वत्थ-तले
नदीके घाटपर बैठा है यात्री-दल
पार जानेकी आशा लिये।
पास ही चल रहा हाटका बजार है।
गञ्जके घास-फूँस टीन-मिट्टीके झोंपड़ोंमें
गुड़की भरी गागरोंकी लग गई कतार है ;
चाट-चाट जाते हैं घ्राण-लुब्ध गाँवके कुत्ते सब ;
भीड़ कर रही हैं मक्खियाँ।
सड़कमें ऊपरको किये मुँह खड़ीं बैल-गाड़ियाँ
बोझ लादे पटसनका।
गट्ठर खींच एक-एक कह-कहके रामे-राम
आढ़तके आँगनमें तौल रहे तुलाराम।
बँधे-खुले बैल सब चर रहे घास और
पूँछका चँवर ढोर उड़ा रहे मक्खियाँ।
जहाँ-तहाँ सरसोंके ढेर लगे
कर रहे प्रतीक्षा हैं गोलोंमें जानेकी।
मछुओंकी नावें सब आ-आकर भिड़ रहीं घाटपर,
मँडरा रहीं चीलें हैं मछलियोंके ठाठपर।
महाजनी नावें भी हाल तटपर हैं बँधी-हुई।
बुन रहे मल्लाह जाल नावोंकी छतपर बैठ घाममें।
नदी पार कर रहे किसान हैं
भैंसोंकी पीठपर साथ-साथ तैरकर।
पारके जङ्गलमें दूरसे चमक रहा मन्दिरका शिखर है
प्रभात-सूर्य-तापमें।
खेत और मैदानके अदृश्य उस पारमें
चलती है रेल-गाड़ी क्षीणसे भी क्षीणतर
ध्वनि-रेखा खींचकर आकाश-वातासमें,

उच्छल परिहाससे,
पवनको कर धैर्यच्युत,
परिचय-धारामें तरङ्गित हो लाया वह अपरिचितको
अचिन्त्य रहस्य-भाषाको,
चारों ओर स्थिर है जो-भी-कुछ परिमित नित्य-प्रत्याशित
उसीमें मुक्त कर धावमान विद्रोहकी धाराको।

आज वही प्रेम स्निग्ध सान्त्वनाकी स्तब्धतामें
नीरव निःशब्द हो पड़ा है प्रच्छन्न गभीरतामें।
चारों ओर निखिलकी विशाल शान्तिमें
आ मिला है वह सहज मिलनमें,
तपस्विनी रजनीके नक्षत्र-आलोकमें उसका आलोक है,
पूजा-रत अरण्यके पुष्पार्घ्यमें उसकी है माधुरी।

'उदयन'
मध्याह्न : ३० जनवरी '४१

१४

घण्टा बज उठा दूर कहीं।
नगरकी अभ्रभेदी आत्म-घोषणाकी
मुखरता मनसे हो गई लुप्त,
आतप्त माघकी धूपमें अकारण देखा चित्र एक
जीवन-यात्राके प्रान्तमें जो अनतिगोचर था।

गूँथ-गूँथ ग्रामोंको खेतोंकी पगडण्डियाँ
चलती चली गई हैं न-जाने कितनी दूर तक
कहीं-कहीं नदी-तटका सहारा ले।

प्राचीन अश्वत्थ-तले
नदीके घाटपर बैठा है यात्री-दल
पार जानेकी आशा लिये ।
पास ही चल रहा हाटका बजार है ।
गञ्जके घास-फूँस टीन-मिट्टीके झोंपड़ोंमें
गुड़की भरी गागरोंकी लग गई कतार है ;
चाट-चाट जाते हैं घ्राण-लुब्ध गाँवके कुत्ते सब ;
भीड़ कर रही हैं मक्खियाँ ।
सड़कमें ऊपरको किये मुँह खड़ीं बैल-गाड़ियाँ
बोझ लादे पटसनका ।
गट्टर खींच एक-एक कह-कहके रामे-राम
आढ़तके आँगनमें तौल रहे तुलाराम ।
बँधे-खुले बैल सब चर रहे घास और
पूँछका चँवर ढोर उड़ा रहे मक्खियाँ ।
जहाँ-तहाँ सरसोंके ढेर लगे
कर रहे प्रतीक्षा हैं गोलोंमें जानेकी ।
मछुओंकी नावें सब आ-आकर भिड़ रहीं घाटपर,
मड़रा रहीं चीलें हैं मछलियोंके ठाठपर ।
महाजनी नावें भी ढालू तटपर हैं बँधी-हुई ।
बुन रहे मल्लाह जाल नावोंकी छतपर बैठ घाममें ।
नदी पार कर रहे किसान हैं
भैंसोंकी पीठपर साथ-साथ तैरकर ।
पारके जङ्गलमें दूरसे चमक रहा मन्दिरका शिखर है
प्रभात-सूर्य-तापमें ।
खेत और मैदानके अदृश्य उस पारमें
चलती है रेल-गाड़ी क्षीणसे भी क्षीणतर
ध्वनि-रेखा खींचकर आकाश-वातासमें,

पीछे-पीछे धुआँ छोड़ फहराती जा रही
दूरत्व-विजयकी लम्बी विजय-पताका।

याद उठ आई, कुछ नहीं, गहरी निशीथ रातकी,
गङ्गाके किनारे बँधी नाव थी।
चाँदनीसे चमचमा रहा था जल नदीका,
थी घनीभूत छाया-मूर्ति निष्कम्प अरण्य-तटपर,
क्वचित् कहीं दिखाई दे जाती थी लौ दिआकी।
सहसा मैं उठा जाग।
शब्द-शून्य निशीथके आकाशमें उठी एक गीत-ध्वनि तरुण किसी कण्ठसे
दौड़ रही उतारके बहावमें तन्वी नाव तीव्र वेगसे।
क्षणमें अदृश्य हो गई वह;
दोनों पार स्तब्ध वनमें जागती रही गीत-ध्वनि;
चन्द्रमाका मुकुट पहने अचपल निशीथ-प्रतिमा
निर्वाक् हो पड़ी रही पराभूत निद्राकी शय्यापर।

पश्चिमका गङ्गा-तट, शहरके शेष-प्रान्तमें बासा है,
दूर-प्रसारित है बालू तट,
शून्य आकाशके नीचे शून्यताका करता हो भाष्य मानो।
यहाँ-वहाँ चर रही गायें हैं फसल-कटे बाजरेके खेतमें;
तरबूजकी लताओंको बचा रहे बकरियोंसे
बालक किसानके डण्डे लिये हाथमें।
घूम रही कहीं है एकाकिनी पल्ली-नारी
शाक-सब्जीकी खोजमें टोकरी लिये काँखमें।
कभी-कभी बहुत दूर चल रही तट-रेखाके साथ-साथ
झुकाये पीठ गति-क्लिष्ट मल्लाहोंकी टोलियाँ,
रस्सोंसे खींच रहे नाव वे।

जल-थलमें सजीवोंका और-कोई नहीं चिह्न सारे दिन।
गोलक-चम्पाका पेड़ खड़ा एक पासके ही अनादृत बागमें ;
वृद्ध वृक्ष महानीमका है,
जड़के पास चारों ओर गोल पक्का आसन है,
निविड़ और गम्भीर है आभिजात्य-छाया उसकी ।
रातको है बगुलोंका आश्रय वहाँ ।
कुआ भी है, खिचा-हुआ पानी उसका
नाली-प्रणालियोंमें बहता ही रहता दिन-भर,
भुट्टोंके खेतोंमें जा-जाकर दे रहा प्राण उन्हें ।
बतसिया पीस रही गेहूँ है
गिलट और पीतलके खड़ुए और कङ्कन हैं हाथमें ।
यह कैसी दुपहरी है, गाती ही रहती है एक सुर ।

चलते-चलते पथिक-मन देखता है कितने दृश्य
चेतनाके प्रत्यन्त-प्रदेशमें,
क्षणभङ्गुर हैं, फिर भी तो मनमें आज जाग-जाग उठते सब ;
एक नहीं, अनेक ऐसे उपेक्षित विचित्र-चित्र
और जीवनकी सर्वशेष विच्छेद-वेदनाएँ सब –
स्मरण करा रहा है आज दूरका यह घण्टा-रव ।

'उदयन'
संध्या : ३१ जनवरी '४१

१५

निर्जन रोगीका घर ।
खुले-हुए द्वारसे
टेढ़ी-तिरछी छाया आ पड़ रही है शय्यापर ।

शीतके मध्याह्न-तापमें तन्द्रातुर वेला है
चल रही, गति उसकी मन्थर है
शैवालसे दुर्बल-स्रोत नदीके समान ही।
जाग-जाग उठता है रह-रहकर
अतीतका दीर्घश्वास शस्य-शून्य खेतमें।

आ रही याद आज, हो गये अनेक दिन,
वेगवती पद्मा-नदी एक दिन
कार्य-हीन प्रौढ़ प्रभातमें
स्थानच्युत कगारोंके नीचेसे
धूप और छायामें
बहा ले गई मेरी उदास विचार-धाराको
अपने शुभ्र फेनमें।
शून्यके किनारेका कर-करके स्पर्श वहाँ
मछुओंकी नाव कहीं चल रही उठाये पाल,
पड़े हैं यूथभ्रष्ट शुभ्र मेघ आकाशके कोनमें।
ले-ले घट घासों-चमचमाते कौरोंमें
ग्राम्य-वधुएँ सब धनरानी जातीं घूँघटके भीतरसे,
मृदु वार्तासे गुञ्जरित टेढ़े-मेढ़े ग्राम्य पथपर
आम्र-वनकी छायामें कोयल कहीं बोल रही
क्षण-क्षणमें निभृत वृक्ष-शाखापर !
छाया-कुण्ठित ग्राम्य जीवनयात्राका रहस्यमय आवरण
कम्पित कर देता है मेरा मन।
सरोवरके चारों ओर सरसोंके हरे-भरे खेतोंसे
पूर्ण हो जाता है प्रतिदान इस धरणीका
सूर्य-किरणोंके दानका,
सूर्य-मन्दिरकी वेदी-तले बिछा है नैवेद्य-थाल पुष्पका।

एक दिन शान्त दृष्टि फैलाकर निमृत प्रहरमें
भेजी मैंने निःशब्द मूक बन्दना
उस सविताको जिनके ज्योति-रूपमें प्रथम मानवने
मर्त्यके प्राङ्गण-तले देवताका देखा स्वरूप था।
मन-ही-मन सोचा है,
प्राचीन युगकी वाणी वैदिक मन्त्रकी
होती कहीं मेरे कण्ठमें तो –
मिल जाता मेरा स्तव स्वच्छ सूर्यालोकमें।
भाषा नहीं, भाषा नहीं ;
दूर-दिगन्तकी ओर देख बिछा दिया मैंने तो –
'मौन' अपना पाण्डु-नील मध्याह्न-आकाशमें।

'उदयन'
मध्याह्न : १ फरवरी '४१

१६

अकेला आज बैठा मैं विश्वके प्रान्तर-गवाक्षमें
देख रहा दिगन्तकी नीलिमामें अनन्तकी मौन-भाषा।
आलोक है आ रहा छाया-जड़ित
ढो-ढोकर ला रहा सिरीष-वृक्षसे
श्याम स्निग्ध सत्यता।
पथ-रेखा लीन हुई अस्तगिरि-शिखर-अन्तरालमें,
स्तब्ध हुआ खड़ा मैं दिनान्त-पान्थशाला-द्वारपर,
दूर देखो, चमक रहे क्षण-क्षणमें
शेष-तीर्थ-मन्दिरके कलश हैं।
वहाँ सिंहद्वारपर बज रही दिनान्तकी रागिणी
जिसकी मूर्छनामें मिश्रित है
इस जन्मका जो-कुछ भी सुन्दर है,

स्पर्श किया जिसे प्राणने
दीर्घ यात्रा-पथमें पूर्णताका इंगित दे।
मनमें बज-बज उठता है –
'दूर नहीं, दूर नहीं, नहीं बहुत दूर है।'

१७

विराट सृष्टि-क्षेत्रमें
हो रहा खेल आतिशबाजीका आकाश-आकाशमें
सूर्य-चन्द्र-ग्रह-तारोंका
युग-युगान्तरके परिमापमें।
मैं भी आ पहुँचा हूँ अनादि-अदृश्यसे
क्षुद्र अग्नि-कणा ले
किनारे एक क्षुद्र देश-कालमें।
प्रस्थानके अन्तमें ज्यों ही आ पहुँचा आज
त्यों ही म्लान होने लगी दीप-शिखा,
छायामें पकड़ाई दिया इस खेलका माया-रूप,
शिथिल हो आये सब धीरे-धीरे
सुख-दुःखके नाट्य-साज।
देखा, युग-युगमें नटी-नट सैकड़ों
छोड़ गये अपने-अपने नाना-रंगके नाना वेश
रंगशालाके द्वारके बाहर ही।
देखा फिर, शत-सहस्र निर्वापित नक्षत्रके
नेपथ्य-प्रांगणमें
नटराज निस्तब्ध एकाकी बैठे हैं ध्यानमें।

'उदयन'
सन्ध्या : ३ फरवरी '४१

१८

वाक्योंका जो छन्द-जाल सीखा था बुनना मैंने
दे रहा पकड़ाई आज उसी जालमें
बिन-पकड़ा जो-कुछ था
चेतनाकी सतर्कतासे बचा-हुआ अगोचरमें
मनके गहनमें ।
नाममें बाँधना चाहता हूँ, किन्तु –
मानता न परिचय वह नामका ।
मूल्य यदि हो उसका कुछ भी, तो –
ज्ञात होता रहता है दिनपर दिन प्रतिक्षण
हाथों-हाथ हस्तान्तर होनेमें ।
अकस्मात् परिचयसे यदि विस्मय उसका
विस्मृत हो जाय, तो –
लोकालयमें स्थान नहीं पाता वह,
मनके सैकत-तटपर कुछ काल तक
विकीर्ण रहता वह,
लालित जो कुछ है गोपनका
प्रकाश्यके अपमानसे
दिनपर दिन विलीन होता रहता वह रेतमें ।
पण्यकी हाटमें अचिह्नित परित्यक्त रिक्त यह जीर्णता
युग-युगमें कुछ-कुछ दे गई है दान अख्यातका
साहित्यके भाषा-महाद्वीपमें
प्राणहीन प्रवाल-सम ।

'उदयन'
सायाह्न : ४ फरवरी '४१

१९

अलस समय-धाराके सहारे मन
शून्यकी ओर दृष्टि किये चलता ही रहता है।
उस महाशून्य-पथमें छायाङ्कित नाना चित्र देते दिखाई हैं।
कितने काल-कालान्तरमें न-जाने कितने लोग
दल बाँध-बाँध आये और चले गये
सुदीर्घ अतीतमें
जयोद्धत प्रबलसे प्रबलतर गति लिये।
आया था साम्राज्य-लोभी पठान-दल,
आये थे मुगल भी ;
विजय-रथके पहियोंने उड़ाया था धूलि-जाल
उड़ाई थी विजयकी पताका भी।
देखता हूँ, शून्य-पथमें तो –
आज उसका कोई एक चिह्न तक है नहीं।
निर्मल उस नीलिमामें प्रभात और सन्ध्यामें रंगीन प्रकाश है
युग-युग-व्यापी सूर्योदय-सूर्यास्तका।
फिर, इसी शून्य-तले
आये हैं दल बाँध-बाँध
लौह-निर्मित पथसे
अनल-निश्वासी रथसे
प्रबल अंगरेज,
फैला रहे अपना तेज।
जानता हूँ, इनके भी पथसे बह जायगा अवश्य काल,
जाने-कहाँ बहा देगा इनका यह देशव्यापी साम्राज्य-जाल।
जानता हूँ, पण्यवाही सेना इनकी जायगी,
ज्योतिष्कलोक-पथमें यह
रेखामात्र चिह्न भी न रख पायगी।

इस मिट्टीकी पृथ्वीपर दृष्टि डालता हूँ तो —
देखता हूँ, चारों ओर कलकल-रवसे
विपुल जनता है चल रही
नाना दलमें नाना पथसे
युग-युगान्तरसे
मानवके नित्य-प्रयोजनके ताड़नमें
जीवन और मरणमें।
चिरकाल ये खेते डाँड़,
रहते हैं थामे पतवार;
बोते हैं बीज खेतोंमें
काटते हैं पके धान।
निरन्तर काम करते हैं
नगर और प्रान्तरमें।
राज-छत्र टूट जाते, रण-डङ्का न करते शब्द,
जयस्तम्भ मूढ़-सम भूल जाते अपना अर्थ,
रक्ताक्त अस्त्र ले हाथमें
लाल-लाल आँखें क्रुद्ध
जा छिपती हैं शिशु-पाठ्य कहानियोंमें।
प्रचण्ड गर्जन और गुञ्जन-स्वर दिन-रातोंमें गुँथ-गुँथकर
मुखरित किये रहते हैं दिन-यात्राको।
सुख-दुःख दिवस-रजनी मिलकर सब
मन्द्रित कर देते हैं जीवनकी महामन्त्र-ध्वनिको।
सैकड़ों साम्राज्यके भग्न-अवशेषपर
काम करता है मानव इस पृथ्वीपर।

'उदयन'
प्रभात : १३ फरवरी '४१

२०

पलाशकी आनन्द-मूर्ति जीवनके फागुनकी,
आज दी दिखाई तुम इस सम्मान-हीनकी
दरिद्र-दीन-वेलामें,—
जहाँ मैं साथी-हीन अकेला हूँ
उत्सव-प्रांगणके बाहरके पथपर
शस्यहीन मरुमय तटपर।
जहाँ इस धरणीके प्रफुल्ल प्राण-कुञ्जसे
अनादृत ये मेरे दिन पलायमान स्रोतमें
बहते ही चले जा रहे छिन्न-वृन्त हो
वसन्तके शेषमें।
फिर भी तो कृपणता नहीं तुम्हारे दानमें,
यौवनका पूर्ण मूल्य दिया मेरे दीप्तिहीन प्राणमें,
अदृष्टकी अवज्ञाको माना नहीं —
मिटा दिया उसके अवसादको ;
जना दिया मुझे यह —
सुन्दरकी अभ्यर्थना पा रहा मैं प्रतिक्षण,
पल-पलमें पा रहा नवीनका ही निमन्त्रण।

'उदयन'
सन्ध्याह्न : १३ फरवरी '४१

२१

'पृथ्वीलोक यह मधुमय है, मधुमय है पृथ्वीकी धूलि यह'—
निज अन्तरमें उठा रख लिया मैंने
इसी महामन्त्रको,
चरितार्थ जीवनकी वाणी यह।

दिनपर दिन पाता ही रहा मैं जो-कुछ-भी उपहार था सत्यका,
मधु-रसमें नहीं कमी क्षय उसका ।
तभी तो यह मन्त्र-वाणी हो रही ध्वनित है मृत्युके सर्वशेष-प्रान्तमें
मिथ्या कर क्षतियोंको अन्तरमें आनन्द विराजता ।
ले जाऊँगा जब मैं शेष-स्पर्श धरणीका
यही कह जाऊँगा, 'तुम्हारी ही धूलिका
तिलक लगाया मैंने भालपर,
देखी है नित्यकी ज्योति मैंने दुर्योगकी मायामय ओटमें ।
सत्यका आनन्द-रूप
उसीने तो धारण की निज मूर्ति इस धूलिमें —
यह जानकर इस धूलिपर रख चला प्रणाम मैं ।'

'उदयन'
प्रभात : १४ फरवरी '४१

२२

खुला था मनका द्वार, असतर्कतामें अकस्मात्
न-जाने कहाँसे कैसे आ लगा दुःखका आघात वहाँ ;
खुल गया उस लज्जासे मर्म-तले प्रच्छन्न बल
था जो जीवनका निहित सम्बल ।
ऊर्ध्वसे आई एक जयध्वनि
दिगन्त-पथसे मनमें आ उतरी वह सुलक्षणी,
आनन्दका विच्छुरित प्रकाश तब
उसी क्षण मेघका अँधेरा फाड़ फैल गया हृदयमें ।
क्षुद्र कोटरका हुआ लुप्त असम्मान
निखिलके आसनपर दीख पड़ा निज स्थान,
आनन्दने आनन्दमय चित्त मेरा जीत लिया,
उत्सवका आनन्द पथ —

पहचान गया सृष्टि-क्षेत्रमें सगौरव अपना स्थान ।
दुःख-ताड़ित ग्लानि थी जितनी भी,
छाया थी, विलीन हुई अकस्मात् ।

'उदयन'
मध्याह्न : १४ फरवरी '४१

२३

धीरे-धीरे सन्ध्या है आ रही,
एक-एक करके सब ग्रन्थियाँ हैं खुल रहीं
प्रहरोंके कर्म-जालसे ।
पश्चिमका द्वार खोल दिनने दी जलांजलि
निज स्वर्णमय ऐश्वर्यको
आलोक-अन्धकार-सागरके संगममें ।
दूर प्रभातको नतमस्तक हो कर रही नीरव प्रणाम वह ।
आँखें उसकी मुँदी आतीं, आ गया समय अब
गंभीर ध्यान-मग्न हो इस बाह्य-परिचयको देने तिलांजलि ।
नक्षत्रोंका शान्ति-क्षेत्र असीम गगन है
जहाँ ढकी रहती है सत्ता दिनश्रीकी,
अपनी उपलब्धि करने यहीं सत्य जाता है
रात्रि-पारावारमें पार दीखता है ।

'उदयन'
मध्याह्न : १६ फरवरी '४१

२४

आलोकके अन्तरमें जिस आनन्दका पाता स्पर्श,
जानता हूँ, उसके साथ भेद नहीं मेरी अन्तरात्माका ।
एक आदि-ज्योति-उत्ससे

चैतन्य-पुण्य-स्रोतसे
हुआ है मेरा अभिषेक,
ललाटपर दे दिया उसने जय-लेख,
जताया उसीने मुझे,
मैं अमृतका अधिकारी हूँ,
'परम-मैं' के साथ मैं संयुक्त हो सकता हूँ,
विचित्र इस जगत्‌में
आनन्दके मार्गसे प्रवेश पा सकता हूँ।

२५

'मैं' का यह आवरण सहजमें स्खलित हो जाय मेरा ;
चैतन्यकी शुभ्र ज्योति
भेदकर कुहेलिका
सत्यका अमृत-रूप कर दे प्रकाशमान ।
सर्व-मानवमें
एक चिर-मानवकी आनन्द-किरण जो
मेरे चित्तमें विकीरित हो ।
संसारकी क्षुब्धता स्तब्ध जहाँ
उसी ऊर्ध्वलोकमें नित्यका जो शान्ति-रूप
उसे देख जाऊँ मैं, यही मेरी कामना,
जीवनका जटिल जो-कुछ-भी है
व्यर्थ और निरर्थक,
मिथ्याका वाहन है समाजके कृत्रिम मूल्यमें
उसपर मर मिटते हैं कङ्गाल अशान्त जन,
उसे दूर हटाकर
इस जन्मका सत्य अर्थ जानकर जाऊँ मैं
उसकी सीमा पार करनेके पहले ही ।

२६

क्षण-क्षणमें अनुभव मैं कर रहा, समय शायद आ गया,
विदाईके दिनोंपर डालो अब आवरण
अप्रगल्भ सूर्यास्त-आभाका ;
जानेका समय मेरा शान्त हो, स्तब्ध हो,
स्मरण-सभाका कोई समारोह कहीं
शोकके सम्मोहकी छाया उसपर डाले नहीं।
वनश्रेणी देती रहे प्रस्थानके द्वारमें
धरणीका शान्ति-मन्त्र मौन पल्लव-सम्भारमें।
उतर आये धीरेसे रात्रिका निःशब्द आशीर्वाद,
सप्तर्षिकी ज्योतिका प्रसाद।

'उदयन'
सन्ध्या : ११ माघ १९९७

२७

प्रभुभक्त कुत्ता यह प्रतिदिन प्रभातमें
स्तब्ध हो बैठा रहता आसनके पास मेरे
जब तक न मान उसका करता स्वीकार मैं
अपने कर-स्पर्शसे।
बस इतनी-सी स्वीकृति पा उसके सर्वांगमें
तरंगित हो उठता है आनन्द-प्रवाह नित्य।
भाषा-हीन मूक प्राणी-लोकमें
इसी एक जीवने तो —
भेदकर बाधा सब भलाई-बुराईकी
देखा है मनुष्यको सम्पूर्ण रूपमें ;

देखा है उसे, जिसे –
दिये जा सकते हैं प्राण स्वच्छन्द-आनन्दसे,
उँडेला जा सकता है जिसे अहेतुक पूर्ण प्रेम,
असीम चैतन्य-लोकमें
मार्ग दिखा देती है जिसकी परम चेतना।
देखता हूँ, मूक-हृदयका
प्राणपण आत्म-निवेदन जब
जताता निज दीनता,
सोचके किनारा न पाता तव –
किया है कैसा मूल्य आविष्कार
अपने सहज-बोधसे मानव-स्वरूपमें।
भाषा-हीन दृष्टिकी करुण है व्याकुलता,
स्वयं समझती है, पर समझा नहीं सकती वह।
मुझे समझा देती है
इस सृष्टिमें मानवका सत्य परिचय वह।

'उदयन'
प्रभात : पौष १९९७

२८

दिनपर दिन बीत रहे, स्तब्ध बैठा रहता मैं ;
मनमें सोचा करता यह –
जितना है जीवनका दान, कितना और-बाकी उसका
चुकाके सब सञ्चय और अपचय ?
मेरे अयत्नसे कितना हो गया क्षय।
पाया क्या जो प्राप्य था, दिया क्या जो देना था ?
क्या बचा है शेषका पाथेय मेरा ?

आये थे जो पास मेरे, चले गये जो दूर मुझसे,
उनका स्पर्श कहाँ रह गया, मेरे किस सुरमें !
अन्यमनस्कतामें किस-किसको पहचाना नहीं,
विदाईकी पदध्वनि प्राणोंमें वृथा बज रही आज।
सम्भव है यह भी न जाना हो —
कौन कब करके क्षमा, मुँहसे कुछ कहे-बिना
यों ही चला गया हो।
भूल की हो मैंने यदि उसके प्रति,
क्षीण रहेगा क्या तब भी यह
जब न रहूँगा मैं !
कितने सूत्र छिन्न हुए जीवनके अस्तरणमय,
उन्हें जोड़नेका अब न रहा कुछ भी समय।
जीवनके शेष-प्रान्तमें प्रेम है असीम जो
मेरा असम्मान कोई यदि
क्षत-चिह्न अङ्कित करे उनपर, तो —
मेरी मृत्युके हस्त शान्त कर दें आरोग्य उसे,—
सोचा करता हूँ बार-बार यही एक बात मैं।

'उदयन'
सायाह्न : १३ फरवरी '४१

२९

फसल कट जानेपर शेष हो जाते खेत ;
उगता है अनादरका अन्न शाक कुछ चुपका।
भर-भर आँचल आती हैं लेने को गरीब-घरकी लड़कियाँ,
खुशी-खुशी जाती घर
जो मिलता उसे संचय कर।

मेरी खेती आज चलती नहीं,
परित्यक्त पड़े खेतमें अलसाई मन्थर-गतिसे
आलसके दिन यों ही चल रहे हैं।
भूमिमें बाकी कुछ रस है,
मिट्टी नहीं कड़ी हुई ;
देती नहीं फसल कुछ, किन्तु हरी रखती है अपनेको।
श्रावण मेरा चला गया,
न बादल है, न वर्षा धारापातकी ;
कुआर-कातिक भी बीत गया, शोभा नहीं शरत्‌की।
चैत मेरा सूखा पड़ा, प्रखर सूर्य-तापसे
सूख गई नदियाँ सब,
वन-फलके झाड़ोंने यदि बिछाई हो छाया कहीं
समझूँगा यही मैं, मेरे शेष मासमें
धोखा नहीं दिया मेरे भाग्यने,
श्यामल धराके साथ
बन्धन मेरा बना रहा।

'उदयन'
प्रभात : १० जनवरी '४१

३०

विशु-दादा हैं—
दीर्घ-वपु, दृढ़बाहु,
दुःसह कर्तव्यमें उनके नहीं कोई बाधा,
बुद्धिसे उज्ज्वल है उनका चित्त,
तत्परता सर्वदेहमें—
करती रहती सञ्चरण।

तन्द्राके अन्तरालमें –
रोग-क्लिष्ट क्लान्त रात्रिकालमें
मूर्तिमान शक्तिका
जाग्रत रूप जो है प्राणमें
बलिष्ठ आश्वास लाता वह वहन कर,
निर्निमेष नक्षत्रमें –
जाग्रत शक्ति ज्यों निःशब्द विराजती
अमोघ आश्वाससे
सुप्त रात्रिमें विश्वके आकाशमें।
जब पूछता है मुझसे कोई –
'है क्या दुःख तुम्हारे कहीं,
क्या हो रहा है कष्ट कोई ?'–
तो लगता है ऐसा मुझे
इसके नहीं मानी कोई ;
दुःख तो है मिथ्या भ्रम,
अपने ही पौरुषसे अपने-ही-आप मैं
अवश्य ही करूँगा उसे अतिक्रम।
सेवामें निहित शक्ति दुर्बल देहको
करती है दान
बलका सम्मान।

३१

चिरकालसे होती आई है इमारत मेरी
बेकारीके दलमें।
चाहियाग लिखना है,
पढ़ना है पाठ,
दिन कटते हैं व्यर्थ मिथ्या छलमें।

उस गुणीको —
आनन्दमें काट देता मेरा दीर्घ समय जो,
'आओ, आओ' — कहके बड़े आदरसे
बिठाता मैं बैठकमें ;
मैं डरता हूँ 'काम-काजी आदमी' से,
कब्जीमें वह घड़ी बाँध
बाँध लेता समयको कड़ाईसे ;
फजूल-खर्चीके लिए
बाक़ी कुछ रखता नहीं हाथमें,
मुझ-जैसे आलसी लज्जा ही पाते हैं उनके साक्षात्‌में ।
समय नष्ट करनेमें
हम बड़े उस्ताद हैं,
करनेको नुकसान काम बिछाते जो जाल हैं,
उनकी करतूतपर हम देते सदा दाद हैं ।
मेरा शरीर तो काममें-व्यस्तोंको
दूरसे ही दण्डवत्‌ करके भगाता है,
शक्ति नहीं अपनेमें, औरोंकी देहपर महसूल लगाता है ।

सरोज-भइयाको देखता हूँ,—
जो भी कहो, जो भी करो,
सबमें राजी वह रहता है ;
काम-काज कुछ भी नहीं,
समयके भण्डारमें लगा नहीं ताला कहीं,
मुझ-जैसे अक्षमकी क्षण-क्षणकी माँगोंको
तुरत पूरी करना ही स्व-कर्तव्य समझता है ;
उसके पास इतना है उदार अवसर, जिसे —
अकृपण हो बिना-थके दे सकता है निरन्तर ।

आधी रातको स्तिमित आलोकमें
सहसा जब देखता हूँ मूर्ति उसकी, तो –
सोचता हूँ मन-ही-मन –
बिठाकर आश्वासकी नावपर
किसने दूत भेजा यह,
दुर्योगका दुःस्वप्न जिसने दिया तोड़ !
दाय-हीन मनुष्यका यह अचिन्त्य आविर्भाव है,
दया-हीन अदृष्टकी षड्यन्त्रमें महामूल्य यह लाभ है।

'उदयन'
प्रभात : ९ जनवरी '४१

३२

दीदी-रानी –
अन-निपट सान्त्वनाकी खान है।
कोई क्लान्ति, कोई क्लेश
मुखपर न छोड़ सका चिह्न-लेश।
कोई भय, कोई घृणा, कोई ग्लानि किसी कार्यमें –
छाया न डाल सकी उसकी सेवाके माधुर्यमें।
यह अखण्ड प्रसन्नता घेरे रहती सदा उसे,
मानो रचा करती है शान्तिका मण्डल शुभ ;
कुशलसे हाथोंसे करती ही रहती है सिंगार यह बालिका ;
आश्वासकी वाणी मधुर
अवसादको कर देती दूर।
उसकी यह स्नेह-माधुर्य-धारा
अभाग रोगीको घेर
रचा करती है अपने लिए दोनों गढ़।

अविराम स्पर्श चिन्ताका
विचित्र फसलसे मानो
कर रहा उर्वर है उसके दिन-रातोंको।
करना था माधुर्य सार्थक जो, इसीसे –
उसे थी इतने निर्बलकी आवश्यकता।
अवाक् होकर देखता हूँ मैं उसे,
रोगीकी देहमें उसने क्या –
दर्शन किये हैं नित्य अनन्त-शिशुके ?

'उदयन'
२ जनवरी १९४१

२३

बेतुक-तुकान्तके तारे-सितारे गूँथ
छन्दकी किनारीपर
बेकार अलस वेलाको
भरता ही रहता हूँ सिलाईके कामसे।
अर्थपूर्ण नहीं कुछ,
केवल झिलमिलाते रहते हैं
आँखोंके सामने।
तुकबन्दीकी सँधोंमें मेल है,
अँधेरेमें पेड़ोंपर
जुगनुओंका खेल है।
है उनमें आलोककी चमक भी,
किन्तु नहीं दीप-शिखा,
अँधेरेमें खेल रही मानो रात
आलोकके टुकड़ोंको गूँथ-गूँथ।

जंगली पेड़-पौधोंमें
लगते हैं छोटे-बड़े फूल,
फिर भी नहीं उपवन वह।
याद रहें, काम आवें —
सृष्टिमें हैं ऐसी चीज सैकड़ों;
रहें न याद और आवें न काम कभी —
उनकी भी काफी भरमार है।
झरनाका जल झरना ही चलना है
नीचेकी भूमिको सरस और उर्वरा;
फूला नहीं समाता फेन,
क्षणमें बिला जाता है।
कामके साथ ही तो खेल गुँथा-हुआ है —
हल्का जो करता है उसके गुरु-भारको,
देखकर सुखी होती सृष्टिके विधाताको।

'उदयन'
प्रभात : २३ जनवरी १९४०

हिन्दी-अनुवाद
माघ २००८

जीवनके जन्मदिन

'जीवनके जन्मदिन' की पहली, दूसरी और तीसरी कविताके सम्बन्धमें श्रीमती मैत्रेयी देवीने अपने 'मंग्पूमें रवीन्द्रनाथ' ग्रन्थमें लिखा है : उस दिन रवीन्द्रनाथ सवेरे नहा-धोकर ऊपरसे नीचे तक काले रंगकी पोशाक पहने बाहर आकर बैठ गये । काठकी एक बुद्ध-मूर्तिके सामने बैठकर एक बौद्ध वृद्धने स्तोत्र पढ़ा ; और कविने 'ईशोपनिषद्' से बहुत-सा पढ़कर सुनाया । फिर सायाह्नमें दलके दल पहाड़ी लोग आने लगे,—वे शहनाई बजाने लगे, कविपर पुष्प-वर्षा करने लगे । उपर्युक्त तीनों कविताएँ उसी दिनकी रचना हैं ।

चौथी कवितामें जो 'प्रिय-मरण-विच्छेद' का उल्लेख है वह कविके परम-स्नेह-भाजन भ्रातुष्पुत्र सुरेन्द्रनाथके स्वर्गवासका संवाद है । चौदहवीं कविता कालिम्पंगसे कलकत्ता भेजते-हुए कविने साथके पत्रमें लिखा था, 'कर्तव्यके संसारकी ओर पीठ किये बैठा हूँ । रक्तमें ज्वार आनेके लक्षण दिखाई दे रहे हैं । शारदाने पदार्पण किया है पर्वत-शिखरपर, चरणोंके पास गंधपुञ्ज केदार-कुसुमोंके स्तवक रखा है । मस्तकके किरीटपर सुनहली सूर्य-किरणें विच्छुरित हो रही हैं । आरामकुर्सीपर बैठा हूँ सारे दिन, मनके दिक्प्रान्तमें क्षण-क्षणमें सुनाई दे रही है वीणापाणिकी वीणाकी गुञ्जन-ध्वनि । उसीका कुछ नमूना भेज रहा हूँ ।'

इसके बाद २६ सितम्बर १९४० को अकस्मात् घातक रोगने ऐसा पीड़ित कर दिया कि महीने-भर तक प्रायः अर्धचेतन-अवस्था बनी रही । फिर क्रमशः कुछ-कुछ स्वस्थ होनेपर ३० अक्टूबरको रोगशय्यापर कविता रचना शुरू कर दिया ।

यहाँ इतना उल्लेख-योग्य है कि कविगुरु रवीन्द्रनाथके अपने जीवनकालमें प्रकाशित यही अन्तिम ग्रन्थ है ।

जीवनके जन्मदिन

१

जीवनके अशीतितम वर्षमें
किया आज प्रवेश जब
विस्मय यह जाग उठा मनमें —
लक्ष-कोटि नक्षत्रोंके
अग्नि-निर्झरकी निःशब्द ज्योति-धारा जहाँ
दौड़ रही निरुद्देश अचिन्त्य वेगसे
प्लावित कर शून्यताको
दिशा-विदिशामें,
तमोघन अन्तहीन आकाशके वक्षस्तलमें वहाँ
अकस्मात् मैंने किया अभ्युत्थान
असीम सृष्टिके यज्ञमें क्षणिक स्फुलिंग-समान
धारावाही शताब्दीके इतिहासमें ।
आया मैं उस पृथ्वीपर जहाँ कल्पों तक
उठकर प्राण-पङ्कने समुद्र-गर्भसे
जड़के विराट् अङ्कमें
उद्घाटित किया है अपना निगूढ़ परिचय
शाखायित कर रूप-रूपान्तरमें आश्चर्यमय ।
असम्पूर्ण अस्तित्वकी मोहाविष्ट छायाने
आच्छन्न किया था पशुलोकको दीर्घ काल तक ;
किसकी एकाग्र प्रतीक्षामें
असंख्य दिन-रात्रिके अवसानपर
आया मानव मन्थर-गमनसे
प्राणकी रङ्गभूमिपर ?

नूतन-नूतन दीप जल उठते हैं एक-एककर,
नूतन-नूतन अर्थ पा रही वाणी है ;
अपूर्व आलोकमें
मनुष्य देखता है अपना अपूर्व भविष्य-रूप,
पृथ्वीके रङ्गमञ्चपर
धीरे-धीरे चल रहा है प्रकाश-नाट्य
अङ्क-अङ्कमें चैतन्यका —
मैं भी हूँ उस नाटकका पात्र एक
पहने साज नाट्यका ।
मेरा भी आह्वान था यवनिका हटानेके कार्यमें,
परम विस्मय यह मेरे लिए ।
सावित्री पृथ्वी यह, आत्माका मर्त्य-निकेतन,
भूमि पर्वत समुद्र ये —
कैसा गूढ़ सङ्कल्प ले कर रहे सूर्य-प्रदक्षिण ।
इसी रहस्य-सूत्रमें गूँथा गया था
मैं भी अस्सी वर्ष पहले,
चला जाऊँगा कुछ वर्ष बाद ।

२

कल सवेरे मेरे जन्म-दिनमें
इस शैल-आतिथ्य-निवासमें —
बुद्धके नेपाली भक्त आये थे मेरा संवाद सुन ।
भूमिपर बिछाकर आसन
बुद्धका वन्दन-मन्त्र सुनाया सबने मिल मेरे कल्याणमें —
ग्रहण कर ली तत्काल मैंने उनकी यह पुण्य-वाणी ।
इस धरापर जन्म लेकर जिस महामानवने
समस्त मानवोंका जन्म सार्थक किया एक दिन,

मनुष्यके जन्म-क्षणसे
नारायणी यह धरणी
जिनके आविर्भावकी प्रतीक्षा करती आई थी युगोंसे,
जिनमें प्रत्यक्ष हुआ धरापर अभिप्राय सृष्टिका,
शुभ क्षणमें पुण्य-मन्त्रसे
उनका स्मरण कर मैंने जाना यह —
प्रवेश कर अस्सी वर्ष पहले मानव-लोकमें
उस महापुरुषका मैं भी हुआ पुण्यभागी।

२

अपराह्नमें आये थे जन्म-वासरका आमन्त्रण पा
पहाड़ी लोग जितने भी,
एक-एक करके सभीने दी मुझे पुष्प-मञ्जरियाँ
साथ नमस्कारके।
धरणीने पाया था —
न-जाने किस क्षणमें
प्रस्तर-आसनपर बैठकर
करके वह्नितप्त तपस्या युगों तक
यह वर, दान यह पुष्पका,
मनुष्यको जन्म-दिनमें उपहार देनेकी आशासे;
वही वर, मनुष्यको सुन्दरका नमस्कार,
आज आया मेरे हाथमें,
मेरे जन्मका यह सार्थक स्मरण है।
नक्षत्र-खचित महाकाशमें
कहीं भी ज्योतिःसम्पद्में
दिया है दिखाई क्या
ऐसा दुर्लभ आश्चर्यमय सम्मान कभी?

हुआ है निर्दय
अपना भीषण शत्रु आपपर,
धूलिसात् करता है
भूरिभोजी विलासीकी
भाण्डार-प्राचीरको ।

श्मशान-विहार-विलासिनी छिन्नमस्ता
क्षणमें मनुष्यका शुभ्र-स्वप्न छीन
वक्ष विदारकर दिखाई दी आत्म-विस्मृत हो,
दान-स्रोतोंमें अपनी ही रक्त-धारा
आप कर रही पान ।
इस कुत्सित लीलाका होगा अवसान जब,
बीभत्स ताण्डवमें —
इस पाप-युगका होगा अन्त तब,
मानव आयेगा तपस्वीके वेशमें,
चिता-भस्म-शय्यापर आसन जमाकर
बैठेगा नव-सृष्टिके ध्यानमें
निरासक्त मनसे ।
आज उस सृष्टिके आह्वानको ही
घोषित कर रही हैं बन्दूक तोप-कमान सब ।

कालिंगपंग
२२ मई १९४०

६

दमामा बज रहा है आज, सुनो,
बदलीके दिन आ गये
आँधी-तूफानके युगमें ।

होगा आरम्भ कोई नूतन अध्याय निर्मम,
अन्यथा, इतना अपव्यय क्यों,
उतरता आ रहा निष्ठुर अन्याय क्यों ?
अन्यायको खींच लाते हैं अन्यायके भूत ही,
भविष्यके दूत ही।
कृपणताकी बाढ़का प्रबल स्रोत
विलुप्त कर देता है मिट्टीके निःस्व निष्फल रूपको।
बहा ले जाता है जमे-हुए मृत बालूके स्तरको
भरता है उससे वह विलुप्तिके गह्वरको;
सैकती मिट्टीको देता अवकाश है
मरुभूमिको मार-मार उगाता वहाँ घास है।
दूबके खेतकी पुरानी पुनरुक्तियाँ
अर्थहीन हो जाती हैं मूक-सी।
भीतर जो मृत है, बाहर वह फिर भी तो मरता नहीं –
जो अन्न घरमें किया सञ्चित है
अपव्ययका तूफान उसे घेरे दौड़ा आता है,
भण्डारका तोड़ द्वार उड़ा छप्पर ले जाता है।
अपघातका धक्का आ पड़ता उनके कन्धोंपर,
जगा देता है उन्हें फिर उनकी ही मज्जामें घुस-घुसकर।
सहसा अपमृत्युका संकेत आयेगा –
नई फसल बोनेको लायेगा बीज नये खेतमें।
शेष परीक्षा दुर्दैव करायेगा –
जीर्ण युगके सञ्चयमें क्या रहेगा, क्या जायेगा ?
पालिश-शुदा जीर्णताको पहचानना है आज ही,
दमामा बज उठा है, अब करो अपना काज ही।

३१ मई १९४०

हुआ है निर्दय
अपना भीषण शत्रु आपपर,
धूलिसात् करता है
भूरिभोजी विलासीकी
भाण्डार-प्राचीरको ।

श्मशान-विहार-विलासिनी छिन्नमस्ता
क्षणमें मनुष्यका सुख-स्वप्न जीत
वक्ष विदारकर दिखाई दी आत्म-विस्मृत हो,
शत-स्रोतोंमें अपनी ही रक्त-धारा
आप कर रही पान ।
इस कुत्सित लीलाका होगा अवसान जब,
बीभत्स ताण्डवमें —
इस पाप-युगका होगा अन्त जब,
मानव आयेगा तपस्वीके वेशमें,
चिता-भस्म-शय्यापर आसन जमाकर
बैठेगा नव-सृष्टिके ध्यानमें
निरासक्त मनसे ।
आज उस सृष्टिके आह्वानको ही
घोषित कर रही हैं बन्दूक-तोप-कमान सब ।

कलिंगपंग
२२ मई १९४०

६

दमामा बज रहा है आज, सुनो,
बदलीके दिन आ गये
आँधी-तूफानके युगमें ।

होगा आरम्भ कोई नूतन अध्याय निर्मम,
अन्यथा, इतना अपव्यय क्यों,
उतरता आ रहा निष्ठुर अन्याय क्यों ?
अन्यायको खींच लाते हैं अन्यायके भूत ही,
भविष्यके दूत ही।
कृपणताकी बाढ़का प्रबल स्रोत
विलुप्त कर देता है मिट्टीके निःस्व निष्फल रूपको।
बहा ले जाता है जमे-हुए मृत बालूके स्तरको
भरता है उससे वह विलुप्तिके गह्वरको ;
सैकती मिट्टीको देता अवकाश है
मरुभूमिको मार-मार उगाता वहाँ घास है।
दूबके खेतकी पुरानी पुनरुक्तियाँ
अर्थहीन हो जाती हैं मूक-सी।
भीतर जो मृत है, बाहर वह फिर भी तो मरता नहीं –
जो अन्न घरमें किया सञ्चित है
अपव्ययका तूफान उसे घेरे दौड़ा आता है,
भण्डारका तोड़ द्वार उड़ा छप्पर ले जाता है।
अपघातका धक्का आ पड़ता उनके कन्धोंपर,
जगा देता है उन्हें फिर उनकी ही मज्जामें घुस-घुसकर।
सहसा अपमृत्युका संकेत आयेगा –
नई फसल बोनेको लायेगा बीज नये खेतमें।
शेष परीक्षा दुर्दैव करायेगा –
जीर्ण युगके सञ्चयमें क्या रहेगा, क्या जायेगा ?
पालिश-शुदा जीर्णताको पहचानना है आज ही,
दमामा बज उठा है, अब करो अपना काज ही।

३१ मई १९४०

७

नाना दुःखमें चित्तके विक्षेपमें
जिनके जीवनकी नींव काँप-काँप उठती है बार-बार,
सुनो, जो हो अन्यमना,
मानो मेरा कहना —
अपनेको भूलना न कभी भी ।
मृत्युंजय हैं जिनके प्राण,
समस्त तुच्छताके ऊपर जो दीप जला रखते हैं अनिर्वाण,
उनसे हो तुम्हारा परिचय नित्य, रखना ध्यान ।
उन्हें करोगे यदि खर्व तो —
सदा खर्वताके अपमानसे बन्दी बने रहोगे ।
उनके सम्मानका करना मान तुम
चिर-स्मरणीय हैं जो विश्वमें ।

८

उमर मेरी होगी तब बारह या तेरहकी ।
पुरानी नील-कोठीकी ऊपरकी मंजिलपर कमरा था
जिसमें मैं रहता था ।
सामने थी खुली छत —
दिन और रात दोनों मिल
उजाले-अँधेरेमें जगा दिया करते थे
साथी-हीन बालककी भावना और चिन्ताको
असम्बद्ध-रूपमें,
अर्थशून्य प्राण वे पाती थीं,
जैसे, नीचे देखो सामने —
आलेमन-सी ओढ़नी हरियालीपर

जीवनके जन्मदिन : गद्य-काव्य

बढ़ रहे प्रकाश पा पेड़-झाड़ बेंतके
किनारे तालावके ।
झाऊकी पंक्ति खड़ी काँप रही झर-झर-झर,
नीलकी खेतीके पुराने जमानेकी
हो रही ध्वनि मानो मर्मर-मर ।
वृद्ध इन वृक्षोंके समान ही आदिम-पुरातन
वयसके अतीत उस बालकका मन
निखिल-आत्माका पाता था प्रकम्पन,
आकाशकी अनिमेष दृष्टिकी बुलाहटपर
देता था उत्तर वह,
ताके ही रहता था दूर बहुत दूरीपर ।
चरवाहोंकी बाँसुरीकी सुनके करुण धुन
वेदना प्रच्छन्न जो अस्तित्वकी
नाच-नाच उठती थी नाड़ी और नसोंमें ।
जाग्रत नहीं थी बुद्धि मेरी,
बुद्धिके बाहर था जो-कुछ भी,
कोई बाधा नहीं मिली उसे कहीं किसी द्वारपर ।
स्वप्न-जनताके विश्वमें था द्रष्टा या स्रष्टाके रूपमें,
पण्य-हीन दिनोंको बहा दिया करता था चुपचाप मैं
कदलीपत्रकी नावके व्यर्थके खेलमें ।
सवार हो टट्टूपर पहुँचता मैदान, और
दौड़ाता रहता था देर तक घोड़ेको,
मनमें समझ सेनापति अपनेको,—
पढ़नेकी किताबमें देखा था चित्र जो
मनमें थी वही बात, और-कुछ नहीं था ।
युद्धहीन रणक्षेत्रके इतिहास-हीन मैदानमें
ऐसे ही कटता था मेरा सवेरा तब ।

जवा और गेंदाके फूलोंका निचोड़ रस
मिश्रित उस रंगसे न-जाने क्या लिखता था,
यश उस लिखाईका —
अपने ही मर्ममें हुआ है रंगीन तब—
बाहरकी वाहवाही बिना पाये ही।
शामको बुलाकर विश्वनाथ शिकारीको
सुनता था उससे किस्से विचित्र शेर-शिकारके,
निस्तब्ध छतपर वे लगते थे अद्भुत संवाद-से।
मन-ही-मन मैं भी बन्दूकका दबाता था घोड़ा जब
थर-थर-थर काँप उठती थी छाती तब।
चारों ओर शाखायित सुनिविड़ प्रयोजन थे
उनमें मालक मैं ऑरकिड-वृक्ष सम
डोरेदार खयालोंके अद्भुत विकाशमें
झूमता और झूलता ही रहता था कल्पना-हिंडोलेमें।
मानो मैं रचयिताके हाथमें
पोथीके प्रथम कोरे पानमें
अलङ्करण अङ्कनमें कहीं-कहीं अस्पष्ट कोई लेख था,
बाकी सब रेखाओंका टेढ़ा-सीधा भेष था।
आज जब शुरू हुआ पुराना हिसाब लेन-देनका,
चारों ओरसे आ पहुँचा अदृष्ट क्षमा-हीन मुँह फाड़कर,
उन-सबको दिया तोड़-फोड़ —
विधाताके बचपनके जितने थे खेलघर।
आज याद आते हैं वे दिन और रातें वे,
प्रशस्त वह छत भी,
उस आलोक-अन्धकारमें —
कर्म-समुद्रके बीच निष्कर्म-द्वीपके पारपर
बालकका मन मानो लगता था मध्याह्नमें घुग्घूकी पुकार-सा।

संसारमें कहाँ क्या हो रहा, और क्यों हो रहा
भाग्यके चक्रान्तसे,
बालकने कभी कुछ पूछा नहीं आज तक प्रश्नहीन विश्वमें।
इस निखिलमें जगत् है बचपन विधाताका,
वयस्कोंके दृष्टिकोणमें हास्य था वह कौतुकका,
बालकको नहीं ज्ञात था।
बिछा वहाँ उसका तो आसन अबाध था।
वहीं उसका देव-लोक, स्वकल्पित वहीं स्वर्गलोक,
नहीं जहाँ भर्त्सना, नहीं जहाँ पहरा किसी प्रश्नका,
नहीं कहीं युक्तिका संकेत कोई पथमें,
था इच्छाका ही सञ्चरण उसके लगाम-मुक्त रथमें।

९

सोचता मनमें हूँ, मानो भाषाके असंख्य शब्द
हुए हैं मुक्त आज,
दीर्घकाल व्याकरण-दुर्गमें बन्दी रहनेके बाद
अकस्मात् हो उठे विद्रोही आज,
अधीर हो अविश्राम कर रहे कवायद हैं।
तोड़ रहे बार-बार वाणीके शासनको,
कर रहे ग्रहण हैं मूर्खजन अबद्ध भाषणको,
छिन्न कर अर्थका शृङ्खल-पाश
साधु-साहित्यपर कर रहे प्रहार हैं—
मार-मार डण्डा व्यङ्ग-हास्य-परिहासका।
और-सब छोड़कर मानते हैं केवल श्रुतिको वे—
विचित्र उनकी भङ्गिमा है,
विचित्र उनकी युक्तियाँ।
कहते हैं, हमने जन्म लिया है

इस धरणीपर निश्वसित पवनमें
आदिम ध्वनिकी सन्तानके रूपमें,
मानव-कण्ठमें मन-हीन प्राण जब —
नाड़ीके झूलेमें सद्य जागरणसे उठ
नाच-नाच उठे थे।
शिशु-कण्ठमें लाये हम आदि-काव्य
अस्तित्वकी प्रथम कलध्वनि।
गिरि-शिखरपर पागल निर्झर श्रावणका दूत जो
उसीके कुटुम्बी हम
आये हैं लोकालयमें
मन्त्र लेकर सृष्टिकी ध्वनिका।
मर्मर-मुखर वेगसे
ध्वनिका जो कलोत्सव
अरण्यके तरु-पल्लवोंमें हो रहा,
ध्वनि जो दिगन्तमें आँधीके छन्दका करती है तांडव-नाच,
निद्रान्तमें जगाती जो प्रभातका महा-प्रलाप,
उस ध्वनिके क्षेत्रसे आहरण किये हैं शब्द मनुष्यने
पदानत वन्य घोटकके समान मानो
अपने जटिल नियम-सूत्र-जालमें
वार्ता-वहन करनेको अनागत दूर देश-कालमें।
सवार हो लगाम-बद्ध शब्द-अश्वपर
मनुष्यने कर दी है द्रुत-गति कालकी मन्थर उन घड़ियोंकी।
जड़की अचल बाधाको तर्क-वेगसे कर हरण
अदृश्य रहस्य-लोकके गहनमें कर रहे सचरण,
व्यूहमें बाँध शब्द-अक्षौहिणीको
प्रतिक्षण मूढ़ताका आक्रमण
व्यर्थ कर, जीत रहे प्रचण्ड रण।

कभी वे चोर-से आ पैठते हैं स्वप्न-राज्यमें,
नींदके भाटा-स्रोतमें पाते नहीं बाधा वे,–
जो जीमें आता है वही ले आते हैं,
छन्दके बन्धनमें नहीं बँधते वे,
उसीसे बुद्धि हो अन्यमना
करती है शिल्प रचना
सूत्र जिसका असंलग्न स्खलित और शिथिल है,
विधाताकी सृष्टिसे जिसका नहीं मेल है ;
जैसे दस-बीस पिल्ले मिल एकसाथ खेलते हैं मत्त हो,
एकपर एक चढ़ते हैं, भूँकते हैं, काटते हैं परस्पर बेमतलब,
उनके इस खेलमें हिंसाका भाव नहीं,
उसमें है केवल उद्दाम ध्वनि और भङ्गिमा।
मन-ही-मन देखता हूँ, दिन-दिन-भर
दलके दल शब्द केवल दौड़ा ही करते हैं
निज अर्थोंसे छिन्न होकर
आकाशमें मेघ जैसे गरजते-गड़गड़ाते हैं।

कलिंगपंग
२४ सितम्बर १९४०

१०

पहाड़की नीलिमा और दिगन्तकी नीलिमा
शून्य और धरातल मिलकर ये सबके सब
बाँध रहे मन्त्र मानो अनुप्रास और छन्दसे।
वनको कराती स्नान शरत्‌की सुनहली घाम।
पीले फूलोंमें मधु ढूँढ़ती हैं बैंगनी मधुमक्खियाँ ;
बीचमें हूँ मैं,–
चारों ओर आकाश है बजा रहा शब्द-हीन तालियाँ।

मेरे आनन्दमें आज हो रहे एकाकार
ध्वनि और समस्त रंग
जानता है क्या इस बातको यहाँका यह कलिंगपंग ?
भण्डारमें करता है संचित यह पर्वत-शिखर
अन्तहीन युग और युगान्तर।
मेरे एक दिवसने वरमाला उसे पहना दी,
यह शुभ-संवाद पानेको –
अन्तरीक्षमें दूरसे भी और दूर
अनाहतके स्वरमें
स्वर्णका घण्टा वहाँ बजता है प्रभातका ढन-ढन-ढन,
सुन रहा क्या यह कलिंगपंग ?

कलिंगपंग
२५ सितम्बर १९४१

११

उस पुरातन कालका इतिहास जब
संवादमें नहीं था मुखरित तब
उस निस्तब्ध ख्यातिके युगमें –
आजके समान ऐसे ही
प्राण-यात्रा-कल्लोलित प्रातमें
जिन्होंने की है यात्रा मरण-शङ्कित मार्गसे
करनेको आत्माका अमृत-अन्न दान
दूर-वासी अनात्मीय जनोंको,
संघबद्ध होकर चले थे जो –
पहुँचे नहीं लक्ष्य तक,
तृषा-तप्त महा-बालुकामें अस्थियाँ हैं छोड़ गये,
जिनके चिह्न तक समुद्रने मिटा दिये,

अनारब्ध कर्म-पथपर
अकृतार्थ नहीं हुए वे –
घुल-मिल गये हैं उस देहातीत महाप्राणमें
शक्ति पहुँचा रहा जो अगोचरमें चिर-मानवको,–
उनकी करुणाका स्पर्श पा रहा मैं
आज इस प्रभातके प्रकाशमें,
उन-सबको मेरा नमस्कार है।

'उदयन' : शान्ति-निकेतन
प्रभात : १२ दिसम्बर १९४०

१२

जीवन-वहन-भाग्यको नित्य आशीर्वादसे
करने दो स्पर्श इस ललाटका
अनादि ज्योतिके दान-रूपमें –
नित्य नवीन जागरणके प्रत्येक प्रभातमें
मर्त इस आयुकी सीमामें।
म्लानिमाका घना निविड़ आवरण
हटता रहे प्रतिदिन और प्रतिक्षण
अमर्त-लोकके द्वारसे
निद्रा-जड़ित रात्रि-सम।
हे सविता, उन्मुक्त करो निज कल्याणतम रूपको,
उस दिव्य आविर्भावमें
देखूँ मैं निज आत्माको
मृत्युके अतीत जो।

'उदयन'
प्रभात : ७ पौष १९९७

१३

कालके प्रबल आवर्तसे प्रतिहत है, फेन-पुञ्जके समान,
प्रकाश-अन्धकारसे रञ्जित यह माया है,
अदेहने धारण की काया है।
सत्ता मेरी,—
न जानता मैं, कहाँसे यह
उत्थित हुई नित्य-धावित स्रोतमें।
सहसा अचिन्तनीय
अदृश्य एक आरम्भमें केन्द्र रच डाला उसने अपना ही।
विश्व-सत्ता बीचमें आ झाँकती है,
ज्ञात नहीं इस कौतुकके पीछे कौन है कौतुकी।
क्षणिकको लेकर असीमका यह खेलना,
नव-विकाशके साथ गुँथी है शेष-विनाशकी अवहेलना,
मृदङ्ग है बज रहा आलोकमें कालका,
चुपकेसे दिखाई देने आती है क्षणिका
नव-वधूके वेशमें ढककर मुँह घूँघटसे
बुद्बुद-हार पहने स्वच्छ मणिका।
सृष्टिमें पाती है आसन यह,
अनन्त उसे जताता है अन्त-सीमाका आविर्भाव।

१४

की है वाणीकी साधना
दीर्घकाल तक,
आज क्षण-क्षणमें करता हूँ उपहास-परिहास उसका।
बहु-व्यवहार और दीर्घ-परिचय
तेज उसका कर रहे क्षय।

करके अपनी अवहेलना
अपनेसे करती है खेल वह ।
तो भी, मैं जानता हूँ, अपरिचितका परिचय निहित था वाक्यमें
जो वाक्यके अतीत है ।
उस अपरिचितका दूत आज मुझे
लिये जाता है दूर
अकूल सिन्धुको –
प्रणाम निवेदन करनेको,
इसीसे कहता मन, 'चला मैं, चला मैं ।'

उस सिन्धुमें दिन-यात्राको सूर्य कर देता पूर्ण,
वहाँसे सन्ध्या-तारा
रात्रिको दिखाये चलते हैं पथ
जहाँ है उसका रथ
जा रहा सन्धान करने
नूतन प्रभात-किरणोंको तमिस्राके पार ।
आज सभी बातें
लगती हैं केवल मुखरता-सी ।
रुकी हैं वे
पुरातन उस मन्त्रके पास आकर
जो ध्वनित हो रहा है उस निःशब्द-शिखरपर
सकल संशय-तर्क
जिस मौनकी गभीरतामें होते निःशेष हैं ।
लोक-ख्याति जिसके पवनसे
क्षीण होकर तुच्छ हो जाती है ।
दिन-शेषमें कर्मशाला
भाषा-रचनाका कर दे निरुद्ध द्वार ।

पड़ा रह जाय पीछे
झूठा कूड़ा-करकट सारा।
बारम्बार मन-ही-मन कह रहा हूँ,
'चला मैं, चला मैं।'
जहाँ नहीं है नाम,
जहाँ हो चुका है लय–
समस्त विशेष परिचय,
'नहीं' और 'है'–
जहाँ मिले हैं दोनों एकमें,
जहाँ अखण्ड दिन
हैं आलोक-अन्धकार-हीन,
मेरी 'मैं'की धारा जहाँ विलीन हो जायगी
क्रमशः परिपूर्ण चैतन्यके सागर-संगममें।
यह बाह्य-आवरण
ज्ञात नहीं,
नाना रूप-रूपान्तरमें
कालस्रोतमें कहाँ बह जायगा।
अपने स्वातन्त्र्यसे निःसक्त हो देखूँगा उसे बाहर
'बहु' के साथ जड़ित मैं अज्ञान-तीर्थगामी।

आसन्न है वर्षका शेष।
पुरातन सब-कुछ अपना मेरा
शिथिल-वृन्त फलके समान
छिन्न हुआ जाता है।
अनुभव उसीका मो
कर रहा विस्तार अपना
मेरे सब-कुछमें।

प्रच्छन्न विराज रहा जो
एकाकी निगूढ़ अन्तरमें,
देखता हूँ उसको मैं
दर्शन पानेकी आशामें।
पश्चात्का कवि
पोंछकर कर रहा क्षीण अपने हस्ताङ्कित चित्रको।
सुदूर सम्मुखमें सिन्धु और निःशब्द रजनी है,
उसके तीरसे सुनता हूँ अपनी ही पदध्वनि।
असीम पथका पथिक मैं, अबकी आया हूँ धरापर
मर्त-जीवनके कामपर।
इस पथमें प्रतिक्षण अगोचरमें
जो-कुछ भी पाया मैंने उसमें पाई है यही एक सम्पदा,
अमूल्य और उपादेय
यात्राका अक्षय पाथेय।
मन कहता है, 'चला मैं'–
अपना प्रणाम रखे जाता हूँ उनके लिए
जिन्होंने जीवनका प्रकाश
फैला दिया मार्गमें।

'उदयन'
प्रभात : १९ जनवरी '४१

१५

मेरी चेतनामें
आदि-समुद्रकी भाषा हो रही है ओङ्कारित ;
अर्थ उसका जानूँ नहीं,
मैं हूँ वही वाणी।

केवल है छलछल कलकल ;
केवल सुर, केवल नृत्य, केवल है वेदनाका कलकोलाहल ;
केवल यह तैरना –
कभी इस पार चलना, कभी उस पार चलना,
कभी अदृश्य गभीरतामें,
कभी विचित्रके किनारे-किनारे ।
छन्दके तरङ्ग-झूलेमें झूलते चले जाते हैं,
जाग उठते हैं कितने हाव-भाव, कितने इशारे ।
स्तब्ध मौनी अचलके इङ्गितपर
निरन्तर सोन-धारा अज्ञात सम्मुखमें है धावमान,
कहाँ उसका शेष है, कौन जानता है ।
धूप-छाया क्षण-क्षणमें देती रहती है
मुड़-मुड़कर स्पर्श नानाप्रकारके
कभी दूर, कभी निकटमें,
प्रवाहके पटमें
महाकाल करता है दो रूप धारण
अनुक्रमसे शुभ्र और कृष्णवर्ण ।
बार-बार दक्षिण और वाममें
प्रकाश और प्रकाशकी बाधा ये दोनों मिल
अधराका प्रतिबिम्ब गति-भङ्गपर जाती है अङ्कित कर,
गति-भङ्गसे टक-टककर ।

१६

विपुला इस पृथ्वीका मैं जानता ही कितना हूँ !
देश-देशमें नगर हैं कितने, और कितनी राजधानियाँ –
मनुष्यकी हैं कितनी कीर्तियाँ,
कितने हैं गिरि सिन्धु मरु, कितनी हैं नदियाँ,

कितने हैं अज्ञात जीव, कितने हैं पेड़-पौधे अपरिचित –
रह गये सब अगोचरमें।
विशाल विश्वका है आयोजन ;
मनको वह घेरे ही रहता है प्रतिक्षण।
इसी क्षोभमें पढ़ा करता हूँ ग्रन्थ भ्रमण-वृत्तान्तके
अक्षय उत्साहसे –
जहाँ भी पाता हूँ चित्रमय वर्णनकी वाणी, उसे –
बटोर लाता हूँ।
ज्ञानकी दीनता अपूर्णता जो भी है मनमें
पूरी कर लेता हूँ भिक्षा-लब्ध ज्ञानसे।

मैं हूँ पृथ्वीका कवि,
जहाँ जितनी भी होती है ध्वनि,
मेरी बाँसुरीके सुरमें उसी क्षण
जाग उठती है उसकी प्रतिध्वनि,
इस स्वर-साधनामें पहुँची नहीं बहुतोंकी पुकार
इसीसे रह गई दरार।
अनुमान और कल्पनामें धरित्रीकी महा-एकतान
पूर्ण करती ही आई है निस्तब्ध क्षणोंमें वह मेरे प्राण।
दुर्गम तुषारगिरि असीम निःशब्द नीलिमामें
अश्रुत जो गाता गान
मेरे अन्तरमें –
भेजा है निमन्त्रण उसने बार-बार।
दक्षिण-मेरुके ऊपर जो अज्ञात तारा है
महा जन-शून्यतामें रात अपनी बिताता वह,
उसने अर्ध-रात्रिमें मेरी अनिद्राका किया है स्पर्श
अनिमेष दृष्टिसे अपूर्व आलोकमें।

सुदूरका महाप्लावी प्रचण्ड निर्झर
मेरे मनके गहनमें भेजा करता है स्वर।
प्रकृतिके ऐक्यतान-स्रोतमें
नाना कवि उँडेलते हैं गान नाना दिशासे ;
उन सबके साथ मेरा है इतना ही योग —
मिलता है सङ्ग सबका, पाता हूँ आनन्द-भोग,
गीत-भारतीका मैं पाता हूँ प्रसाद
निखिलके सङ्गीतका स्वाद।
सबसे दुर्गम जो मनुष्य है अपने अन्तरालमें
उसका कोई परिमाप नहीं बाह्य देश-कालमें।
वह है अन्तरमय,
अन्तर मिलानेपर ही मिलता है उसका अन्तर-परिचय।
मिलता नहीं सर्वत्र उसका प्रवेश-द्वार,
बाधा बनी-हुई है सीमा-रेखा मेरी —
अपनी ही जीवनयात्राकी।
किसान चलाते हल खेतमें,
जुलाहे चलाते ताँत घरमें बैठ,
बहु-दूर प्रसारित है इनका कर्म-भार
उसीपर कदम रख चलता है सब संसार।
अति क्षुद्र अंशपर उसके सम्मानके चिर-निर्वासनमें
समाजके उच्च-मञ्चपर बैठा मैं संकीर्ण वातायनमें।
कभी-कभी गया हूँ मैं उस मुहल्लेके प्राङ्गण तक
नहीं थी शक्ति किन्तु भीतर प्रवेश करनेकी।
जीवनसे जीवनके योग बिना —
कृत्रिम पण्यमें व्यर्थ हो जाता है गीतका द्रव्य-सम्भार।
इसीसे मान लेता हूँ मैं उस निन्दाको
अपने सुरकी अपूर्णताको।

मेरी कविता, मैं जानता हूँ,
गई है विचित्र पथसे, फिर भी वह
हो न सकी सर्वत्रगामी।
किसानके जीवनसे संयुक्त है जो जन,
मन-वचन-कर्ममें सच्ची आत्मीयता जिसने की है अर्जन,
जो है धरणीकी मिट्टीके निकटतम,
उस कविकी वाणी सुननेको
कान बिछाये बैठा हूँ आज मैं।
साहित्यके आनन्द-भोजमें
स्वयं न दे सका जो, नित्य रहता मैं उसीकी खोजमें।
वही सत्य हो,
भाव भङ्गीसे रिझाकर न दूँ धोखा किसी दृष्टिको।
सत्यका मूल्य बिना दिये
करना साहित्यकी ख्याति चोरी,
अच्छी नहीं, अच्छी नहीं, नकल है वह शौकीनी मजदूरीको।
आओ कवि, अख्यात जनके
निर्वाक मनके।
हृदयकी वेदनाका करो उद्धार —
प्राण-हीन इस देशमें गान-हीन परिवेशमें,
अवज्ञाके तापसे शुष्क निरानन्द मरुभूमिको
अपने रससे परिपूर्ण कर दो आज तुम।
भीतर है उत्स उसका अपना जो
उसे खोल दो आज तुम।
साहित्यकी ऐक्यतान-सङ्गीत-सभामें वे भी सम्मान पायें
जिनके पास केवल एकतारा हो —
मूक हैं जो सुख-दुःखमें,
नतमस्तक जो हैं विश्वके सामने।

हे गुणी, पाससे जो दूर हैं, उनकी मैं सुनूँ वाणी।
बने रहो तुम उनके अपने जन,
तुम्हारी ख्यातिमें ही उन्हें मिल जाय अपनी ख्याति,—
करूँगा मैं बारम्बार
तुम्हें विनम्र नमस्कार।

'उदयन'
प्रभात : २१ जनवरी '४१

१७

सिंहासनकी छाया-तले दूर-दूरान्तरमें
जो राज्य स्पर्धासे करता है घोषित —
राजा और प्रजामें दूरत्व या भेद-भाव,
पाँव-तले दबाये रखता है वह अपना ही सर्वनाश।
हतभाग्य जिस राज्यके सुविस्तीर्ण दैन्य-जीर्ण प्राण
राज-मुकुटका नित्य करते हैं कुत्सित अपमान,
असह्य उसका दुःख-ताप
राजाको न लगे यदि, तो लगता है विधाताका अभिशाप।
महा-ऐश्वर्यके निम्न-तलमें
अर्धाशन अनशन नित्य धधकता ही रहता है क्षुधानलमें,
शुष्कप्राय कलुषित है पिपासाका जल,
देहपर है नहीं शीतका वस्त्र-सम्बल,
अवारित है मृत्युका द्वार,
निष्ठुर है उससे भी जीवन्मृत देह-चर्मसार।
शोषण करता ही रहता है दिन-रात
रुद्ध आरोग्यके पथपर रोगका अबाध अभिघात —
जिस राज्यमें बसता हो मुमूर्षु मनुष्य-दल,
उस राज्यको कैसे मिल सकता है प्रजाका बल!

एक पक्ष शीर्ण है जिस पक्षीका
आँधीके सङ्कट-क्षणोंमें नहीं रह सकता स्थिर वह,
समुच्च आकाशसे धूलिमें आ पड़ेगा अङ्गहीन,
आयेगा विधिके समक्ष हिसाब चुकानेका एक दिन।
अभ्रभेदी ऐश्वर्यके चूर्णीभूत पतनके कालमें
दरिद्रकी जीर्ण दशा बनायेगी नीड़ अपना अपने कङ्कालमें।

'उदयन'
सायाह्न : २४ जनवरी '४१

१८

सृष्टि-लीलाके प्राङ्गणमें खड़ा-हुआ
देख रहा क्षण-क्षणमें
तमसके उस पार जहाँ आज
महा-अव्यक्तके असीम चैतन्यमें लीन था मैं।
आज इस प्रभातमें ऋषि-वाक्य जाग रहा मनमें।
करो करो अपावृत, हे सूर्य, आलोक-आवरण,
तुम्हारी अन्तरतम परम ज्योतिमें
देख रहा निज आत्माका स्वरूप मैं।
जो 'मैं' दिन-शेषमें वायुमें करता है विलीन प्राणवायु,
भस्ममें जिसकी देहका अन्त होगा,
यात्रा-पथमें वह अपनी छाया न डाले कहीं
धारण कर सत्यका छद्मवेश।
इस मर्त्यके लीला-क्षेत्रमें
सुख-दुःखमें अमृतका स्वाद भी तो –
पाया है क्षण-क्षणमें,
बार-बार असीमको देखा है
सीमाके अन्तरालमें।

समका है, इस जन्मका शेष अर्थ यहीं था,
उसी सुन्दरके रूपमें,
सङ्गीतमें अनिर्वचनीय जो।
खेलघरका आज जब खुलेगा द्वार
धरणीके देवालयमें रख जाऊँगा अपना नमस्कार,
दे जाऊँगा जीवनका सम्पूर्ण नैवेद्य मैं,
मूल्य जिसका मृत्युके अतीत है।

'उदयन'
प्रभात : ११ माघ १९९७

१९

बहु-जन्मदिनसे गुँथे मेरे इस जीवनमें
अपनेको देखा मैंने विचित्र रूप-समावेशमें।
एक दिन 'नूतन-वर्ष' अतलान्त-समुद्रकी गोदमें
घर लाया था मुझे यहाँ,
तरङ्गोंके विस्तृत प्रलापमें दिगसे दिगन्तरमें जहाँ
शून्य नीलिमापर शून्य नीलिमाने आ
तटको किया था अस्वीकार।
उस दिन देखी थी छवि अविचित्र धरणीकी —
सृष्टिके प्रथम-रेखा-पातमें
जल-मग्न भविष्यत् जब
प्रतिदिन सूर्योदय-पातमें
करता था अपना सन्धान।
प्राणोंके रहस्य-आवरण
तरङ्गोंकी यवनिकापर
दृष्टि डाल सोचने लगा मैं,
अभी तक खुला नहीं मेरा जीवन-आवरण —

सम्पूर्ण जो मैं हूँ
वह तो अगोचर हो रह गया गोपनमें।
नये-नये जन्मदिनोंपर
जो रेखाएँ पड़ती हैं शिल्पीकी तूलिकाकी
उसमें तो खिला नहीं
मेरे चित्रोंका चरम परिचय।
केवल करता हूँ अनुभव मैं,
चारों ओर अव्यक्तका विराट् प्लावन
वेष्टित किये-हुए है दिवस और रात्रिको।

'उदयन'
सायाह्न : २० फरवरी '४१

२०

जन्म-वासरके घटमें
नाना तीर्थोंका पुण्यतीर्थ-वारि
किया है आहरण, इसका मुझे स्मरण है।
एक दिन गया था चीन-देशमें,
अपरिचित थे जो, उन्होंने –
ललाटपर कर दिया चिह्न अङ्कित –
'तुम परिचित हो हमारे' कहके यह।
अलग जा गिरा था कहीं, न-जाने कब, पराया छद्मवेश;
तभी तो दिखाई दिया अन्तरका मानव नित्य;
अचिन्तनीय परिचयने
आनन्दका बाँध मानो दिया खोल।
धारण किया चीनी नाम, पहन लिया चीनी वेश,
समझ ली यह बात मनमें –
जहाँ भी मिल जाते बन्धु, वहीं नवजन्म होता।

प्राणोंमें लाती है यह अपूर्वता।
विदेशी पुष्पोद्यानमें खिलते हैं अपरिचित फूल—
विदेशी हैं नाम उनके, विदेशमें है जन्मभूमि,
आत्माके आनन्द-क्षेत्रमें उनकी यह आत्मीयता—
पाती है अभ्यर्थना बिना किसी बाधाके।

२१

फिर लौट आया आज उत्सवका दिन।
वसन्तके विपुल सम्मानने
भर दी हैं डालियाँ पेड़-पौधोंकी—
कविके प्रांगणमें
नव-जन्मदिनकी डालीमें।
बन्द घरमें दूर बैठा हूँ मैं—
इस वर्ष व्यर्थ हो गया
पलाश-वनका निमन्त्रण।
सोचता हूँ, गान गाऊँ आज वसन्त-बहारमें।
आसन्न विरह-स्वप्न निविड़ हो
उतरा आता है मनमें।
जानता हूँ, जन्मदिन
एक अविचित्र दिनसे जा लगेगा अभी,
विलीन हो जायगा अचिह्नित कालके पर्यायमें।
पुष्प-वीथिकाकी छाया इस विषादको करुण करती नहीं,
बजती नहीं स्मृतिकी व्यथा अरण्यके मर्मर-गुञ्जनमें।
निर्मम आनन्द इस उत्सवकी बजायेगा बाँसुरी
विच्छेदकी वेदनाको पथके किनारे ठेलकर।

'उदयन'
प्रातः : २१ फरवरी '४१

२२

आज मेरा जन्मदिन है।
प्रभातका प्रणाम ले अपना
उदय-दिगन्तकी ओर देखा मैंने,
देखा, सद्यस्नाता ऊषाने
अङ्कित कर दिया है आलोक-चन्दन-लेख
हिमाद्रिके हिम-शुभ्र कोमल ललाटपर।
जो महादूरत्व है निखिल विश्वके मर्मस्थलमें
उसीकी देखी आज प्रतिमा गिरीन्द्रके सिंहासनपर।
गभीर गाम्भीर्य युग-युगमें
छायाघन अपरिचितका कर रहा पालन
पथ-हीन महा-अरण्यमें,
अभ्रभेदी सुदूरको वेष्टित कर रखा है
दुर्भेद्य दुर्गम-तले
उदय-अस्तके चक्र-पथमें।
आज इस जन्मदिनमें
दूरत्वका अनुभव निविड़ हो चला है अन्तरमें
जैसे वह सुदूर नक्षत्र-पथ
नीहारिका-ज्योतिर्वाष्पमें आच्छन्न है रहस्यसे
अपने दूरत्वको वैसे ही देखा मैंने दुर्गममें —
अलक्ष्य-पथका यात्री मैं, अज्ञात है परिणाम जिसका।
आज अपने इस जन्मदिनमें —
दूरका पथिक जो, उसीकी सुनता हूँ पदध्वनि
निर्जन समुद्र-तीरसे।

'उदयन'
प्रभात : २१ फरवरी '४१

२३

जटिल है संसार,
गाँठ सुलझानेमें उलझ जाता हूँ बार-बार ।
सीधा नहीं गम्य-स्थान,
दुर्गम पथकी यात्रा है, कंधेपर बोझ है दुश्चिन्ताका ।
प्रति पदमें प्रति पथमें
सहस्रों हैं कृत्रिम थकानें ।
क्षण-क्षणमें
हतोत्साह होकर शेषमें हार मान लेता मन ।
जीवनके टूटे छन्दमें भ्रष्ट होता मेल है,
जीनेका उत्साह धूलमें लोट हो जाता शिथिल है ।

ओ आशाहीन,
शुष्कतापर उतार लाओ निखिलकी वर्षा-रस-धारा ।
विशाल आकाशमें,
वन-वनमें, धरणीकी घासमें,
सुगभीर अवकाश पूर्ण हो उठा है आज
दूर-दूरतर
अन्तहीन शान्ति-उत्स-स्रोतमें ।
अन्तःशील जो रहस्य है प्रकाश-अन्धकारमें
उसका मन्त्र पढ़े फागुन —
आदिम प्राणके पत्रमें मर्मका सहज साम-गान ।
आलापकी महिमा, जिसे तुच्छताने कर दी है जर्जर
म्लान अवसादसे, उसे दूर कर दो,
दूर हो जाय वह शून्य-तले
द्युलोक और भूलोकके सम्मिलित मन्त्रणाके वक्षमें ।

२४

फूलदानीसे एकके बाद एक
क्षीणआयु गुलाबकी पँखड़ियाँ झड़-झड़ पड़ती हैं।
फूलोंके जगतमें
मृत्युकी विकृति नहीं देखता मैं।
करता नहीं प्रहार शेष-व्यङ्ग जीवनपर असुन्दर।
जिस मिट्टीका ऋणी है–
अपनी घृणासे फूल करता नहीं अशुचि उसे,
रूपसे गन्धसे लौटा देता है म्लान अवशेषको।
विदाका सकरुण स्पर्श है उसमें,
नहीं है भर्त्सना किंचित् भी।
जन्मदिन और मरणदिन
दोनों जब होते मैं सम्मुखीन,
देखता हूँ मानो उस मिलनमें
पूर्वाचल और अस्ताचलमें होती हैं
आँखें चार अवसन्न दिवसकी,–
समुज्ज्वल गौरवका कैसा प्रणत सुन्दर अवसान है!

'उदयन'
सायाह्न : २२ फरवरी '४१

२५

विश्व-धरणीके इस विशाल नीड़में
सन्ध्या है विराजमान,
उसीके नीरव निर्देशसे उसकी ओर
निखिल गतिका वेग हो रहा है धावमान।
चारों ओर धूसरवर्ण आवरण उतरा आता है।

मन कहता है, जाऊँगा अपने घर —
कहाँ घर है, नहीं जानता।
द्वार खोलती है सन्ध्या निःसङ्गिनी,
सामने है नीरन्ध्र अन्धकार।
समस्त आलोकके अन्तरालमें
विस्मृतिकी दूती उतार लेती है
इस मर्त्यकी उधार ली-हुई साज-सज्जा सबकी सब —
प्रक्षिप्त जो-कुछ भी है उसकी नित्यतामें
छिन्न-जीर्ण-मलिन अभ्यासको दूर फेंक देती है।
अन्धकारका अवगाहन-स्नान
निर्मल कर देता है नवजन्मकी नग्न भूमिकाको
जीवनके प्रान्तभागमें
अन्तिम रहस्य-पथ मुक्त कर देता है
सृष्टिके नूतन रहस्यको।
नव जन्मदिन वहाँ है
अँधेरेका मन्त्र पढ़ सन्ध्या जिसे जगाती आलोकमें।

२६

नदीका पालित है मेरा यह जीवन।
नाना गिरि-शिखरका दान उसकी शिराओंमें प्रवाहित है,
नाना सैकत-मृत्तिकासे क्षेम उसका रचित है,
प्राणोंका रहस्य-रस नाना दिशाओंसे
सञ्चारित हुआ नाना शस्योंमें।
पूर्व-पश्चिमके नाना गीत-स्रोत-जालमें
वेष्टित है उसका स्वप्न और जागरण।
जो नदी विश्वकी दूती है
दूरको निकट जो लाती है,

अपरिचितकी अभ्यर्थनाको ले आती है घरके द्वारपर,
उसने रचा था मेरा जन्मदिन –
चिरदिन उसके स्रोतमें
बन्धनसे बाहर मेरा चलायमान नीड़
बहता ही चलता है तीरसे तीरपर।
मैं हूँ व्रात्य, मैं हूँ पथचारी,
अवारित आतिथ्यके अन्नसे पूर्ण हो उठता है
बार-बार निर्विचार जन्मदिनका मेरा थाल।

'उदयन'
मध्याह्न : २३ फरवरी '४१

२७

आती है याद आज, शैल-तटपर तुम्हारी उस निभृत कुटियाकी ;
हिमाद्रि जहाँ निज समुच्च शान्तिके
आसनपर निस्तब्ध नित्य विराजता,
तुङ्ग उसकी शिखरकी सीमा
लाँघना चाहती है दूरतम शून्यकी महिमाको।
अरण्य उतरा जा रहा उपत्यकासे ;
निश्चल हरी बादने निविड़ नैःशब्द्यसे
छा दिया है अपने छायापुञ्जको।
शैल-शृङ्ग-अन्तरालने
प्रथम अरुणोदय-घोषणाके कालमें
अन्तरात्मामें ला दी थी स्पन्दनमय
सद्यस्फूर्त चञ्चलता विश्वजीवनकी।
निर्जन वनका गूढ़ आनन्द जितना था भाषाहीन विचित्र संकेतमें
पाता था हृदयमें –
जो विस्मय था धरणीके प्राणोंकी आदि-सूचनामें।

सहसा अज्ञात-नामा पक्षियोंके
चकित पक्ष-चालनमें
मेरी चिन्ताधारा बह जाती थी
शुभ्र-हिम-रेखाङ्कित महा-पलायनमें।
हो जाती थी अबेर, और लोकालय उठाता था शीघ्रतासे
सुप्तोत्थित शिथिल समयको।
गिरि-गात्रपर चढ़ती चली गई हैं पगडण्डियाँ,
चढ़ते और उतरते हैं पहाड़ी जन
हलके-भारी बोझ लेकर कामके।
पार्वती जनता
विदेशी प्राण-यात्राकी खण्ड-खण्ड वार्ताएँ
मनमें छोड़ जाती हैं,
नाना रेखाओंमें असंलग्न चित्रवत्।
कभी-कभी सुनता हूँ पास ही घण्टा कहीं बज रहा,
कर्मका दौत्य वह करता है
प्रहर-प्रहरमें।
प्रथम आलोकका स्पर्श आ लगता है,
घर-घरमें आतिथ्यका सख्य-भाव जगता है।
स्तर-स्तरमें द्वारके सोपानमें।
नाना रंगके नाना फूल अतिथिके प्राणमें
गृहिणीके हाथसे प्रकृतिकी लिपि ले आते हैं
आकाश-वातासमें।
कलहास्यमें लाती है मानवकी स्नेह-वार्ता
युग-युगान्तके मौनी हिमाद्रिकी सार्थकता।

'उदयन'
सायाह्न : २५ फरवरी '४१

२८

पुराना खंडहर घर और सूना दालान —
मूक स्मृतिका रुद्ध क्रन्दन करता है हाय-हाय,
मरे-दिनोंकी समाधिकी भीतका है अन्धकार
घुमड़-घुमड़ उठता है प्रभातके कण्ठमें
मध्याह्न-वेला तक ।
खेत और मैदानमें सूखे पत्ते उड़ रहे
घूर्णचक्रमें पड़कर हाँप रहे मानो वे ।
सहसा आँधी काल-वैशाखी
करती है वार बर्बरताका
फागुनके दिन जब जानेके पथमें हैं ।

सृष्टि-पीड़ा मारती है धक्के
शिल्पकारकी तूलिकाको पीछेसे ।
रेखा-रेखामें फूट उठती है
रूपकी वेदना
साथी-हीन तप्त रक्तवर्णमें ।
कभी-कभी शैथिल्य आ जाता है
तूलिकाकी चालमें ;
पासकी गलीमें उस चिकसे-ढके धुँधले आकाश-तले
सहसा झमक उठती है संकेत-झंकार जब
उँगलियोंके पोटुओंपर
नाच उठता मानो कोई मदमत्त तब ।
गोधूलिका सिन्दूर छायामें झड़ पड़ता है
पागल आवेगकी
हवाई-आतशबाजीके स्फुलिङ्ग-सा ।

बाधा पाती और मिटाती है शिल्पीकी तूलिका।
बाधा उसकी आती कभी हिंस्र अश्लीलतामें,
और कभी आती है मदिर असंयममें।
मनमें गॅदले सोतकी ज्वार फूल-फूल उठती है,
वह जाती है फेनिल असंलग्नता।
रूपसे लदी नाव
बहा ले चली है
रूपकारको
रातके उलटे उजान सोतमें
सहसा-मिले घाटपर।
दाइने और बायें
सुर-बेसुरके डाँड़ मारते भगदड़ा हैं,
ताल देता चलता है
बहनेका मेल शिल्प-साधनाका।

शान्ति-निकेतन
२५ फरवरी १९४१

२९

तुम सबको मैं जानता हूँ, किन्तु फिर भी –
हो तो तुम दूर ही के जन।
तुम्हारा आवेष्टन, चलना-फिरना,
चारों ओर लहरोंका उभरना-चढ़ना,
सब-कुछ परिचित लगता है,
फिर भी है दुविधा उससे आलम्बनमें,–
क्योंकि दूर हूँ मैं,
तुम्हारी चाहोंकी जो भाषा है
वह है तो मेरे अपने प्राणोंकी ही, फिर भी –

विपण्ण विस्मय होता है
जब देखता हूँ, स्पर्श उसका
ससङ्कोच परिचय ले आता है,
मानो पाण्डुवर्ण शीर्ण आत्मीयता प्रवासीकी।
कुछ देना चाहता हूँ मैं,
नहीं-तो जीवनसे जीवनका
होगा मेल कैसे ?
आते नहीं बनता मुझसे —
निश्चित पदक्षेपमें,
डरता हूँ,—
रीता हो पात्र शायद,
शायद उसने खो दिया हो रस-स्वाद —
अपने पूर्व-परिचयका,
शायद आदान-प्रदानमें
न रहे सम्मान कोई।
इसीसे आशङ्काकी इस दूरीसे
निष्ठुर इस निःसङ्गतामें
तुम सबको बुलाकर कहता हूँ —
जिस जीवन-लक्ष्मीने मुझे सजाया था
नये-नये वेशमें,
उसके साथ विच्छेदके दिन आज
बुझाकर उत्सव-दीप सब
दरिद्रताकी लाञ्छना
होने न देगी कभी कोई असम्मान,
अलङ्कार खोल लेगी,
एक-एक करके सब
वर्ण-सज्जा-हृदय शुभ्र ओढ़नीसे ढक देगी,

ललाटपर अङ्कित कर देगी —
शुभ्र तिलककी रेखा एक ;
तुम भी सब शामिल होना
जीवनका परिपूर्ण घट साथ ले
उस अन्तिम अनुष्ठानमें,
सम्भव है सुनाई दे
दूरसे दूर कहीं —
दिगन्तके उस पार शुभ-शङ्खध्वनि ।

'उदयन'
प्रभात : ७ पौष १९९७

हिन्दी अनुवाद
श्रावणी-पूर्णिमा
२००८

शेष वाणी

१

सामने है शान्ति-पारावार,
बहा दो तरणी, हे कर्णधार !
होगे तुम्हीं मेरे चिर-साथी,
फैलाओ गोद अपनी, गोदमें ले लो मुझे,
असीमके पथमें जलने दो
ज्योति ध्रुवताराकी ।

मुक्तिदाता, तुम्हारी क्षमा, तुम्हारी दया —
होगी चिरयात्रामें पाथेय मेरा ।

हो जाय मर्त्यका बन्धन क्षय,
विराट् विश्व ले ले मुझे गोदमें पसार हाथ,
मिल जाय निर्भय परिचय
महा-अपरिचितका अन्तरात्मामें ।

३ दिसम्बर १९३९
'डाकघर'के लिए लिखित और
कविके तिरोधानके दिन पठित

२

राहुके समान मृत्यु —
डालती छाया केवल,
कर नहीं सकती ग्रास जीवनके स्वर्गीय अमृतको
जड़के कवलमें,—
निश्चित जानता हूँ मनमें इस बातको मैं ।

प्रेमका असीम मूल्य
ठग ले सम्पूर्ण कोई
ऐसा दस्यु नहीं गुप्त कहीं
निखिलके गुहा-गह्वरमें,—
निश्चित जानता हूँ मनमें इस बातको मैं।
सबसे बढ़कर 'सत्य'-रूपमें पाया था जिसे
सबसे बढ़कर 'असत्य' था उसमें छद्मवेश धारणकर,
अस्तित्वका यह कलङ्क कभी
सहता नहीं विश्वका विधान है,—
निश्चित जानता हूँ मनमें इस बातको मैं।
सब-कुछ चल रहा निरन्तर परिवर्तन-वेगमें,
यही है धर्म कालका।
मृत्यु दिखाई देती आ नितान्त अपरिवर्तनमें,
इसीसे वह सत्य नहीं इस विश्वमें,—
निश्चित जानता हूँ मनमें इस बातको मैं।
विश्वको जाना था जिसने 'है' के रूपमें
वही हूँ उसका 'मैं'
अस्तित्वका साक्षी वही,
'परम-मैं' के सत्यमें ही सत्य है उसका,—
निश्चित जानता हूँ मनमें इस बातको मैं।

७ मई १९४०

३

ओरे विहंग मेरे,
रह-रहकर भूलता क्यों स्वर है,
गाना ही था, रुकता क्यों है!

वाणी-हीन प्रभात हुआ जाता व्यर्थ जो,
जानता नहीं क्या इतना भी तू ?
अरुण-आलोकका प्रथम स्पर्श
तरु-लताओंमें लग रहा,
उनके कम्पनमें तेरा ही तो स्वर
पत्ते-पत्तेमें जाग रहा –
भोरके उजालेका जो मीत जो है तू !
जानता नहीं क्या इतना भी तू ?
जागरणकी लक्ष्मी यह रही
मेरे सिरहानेपर –
बैठी है आँचल पसारे,
जानता नहीं क्या इतना भी तू !
गानके दानमें उसे –
करना न वंचित तू।
दुःख-रात्रिके स्वप्न-तले
तेरी प्रभाती क्या-तो बोल रही –
नवीन प्राणकी गीता,
जानता नहीं क्या इतना भी तू ?

'उदयन'
सन्ध्या : १७ फरवरी '४१

४

कड़ी धूपकी लपटें हैं
जनहीन दोपहरीमें ।
सूनी चौकीकी ओर देखा मैंने,
वहाँ भी तो सान्त्वनाका लेश नहीं ।

छाती-भरी हताशाकी माया
मानो करती हाहाकार है।
शून्यताकी वाणी उठती करुणा-भरी,
मर्म उसका पकड़ाई देता नहीं।
गृह मालिकका कुत्ता जैसे –
करुण दृष्टिसे देखता है,
नासमझ मनकी व्यथा वैसे ही करती है हाय-हाय ;
क्या हुआ, क्यों हुआ, कुछ भी न समझता है,
दिन-रात व्यर्थ-दृष्टिसे चारों ओर –
केवल बस ढूँढ़ता ही फिरता है।
चौकीकी भाषा मानो और भी है करुण-कातर,
शून्यताकी मूक व्यथाको वह कर रही व्याप्त प्रिय-विहीन घरमें।

'उदयन'
सन्ध्या : २६ मार्च '४१

५

फिरसे और-एक बार
ढूँढ़ ला दूँगा तुम्हारा यह आसन,
गोदमें जिसकी बिछी है
विदेशकी सम्मान वाणी।
अतीतके भागे-हुए स्वप्न
फिरसे आ करेंगे नीड़,
अस्फुट गुंजनके स्वरोंमें
फिरसे रच देंगे नीड़।
आ-आकर सुखस्मृतियाँ करेंगी जागरण मधुर,
बाँसुरी जो नीरव हुई, लौटा लायेंगी वे उसका सुर।

बाहें रख वातायनमें
वसन्तके सौरभ-पथमें,
महानिःशब्दकी पदध्वनि
सुनाई देगी निशीथ-जगत्‌में ।
विदेशके प्रेमसे जिस प्रेयसीने बिछाया आसन,
चिरकाल बाँध रखेगी वह मम कानोंमें भाषण ।
भाषा जिसकी नहीं थी ज्ञात, आँखोंने की थी बात,
जगाये रखेंगी चिरकाल मुझे उसकी सकरुण बातें ही ।

'उदयन'
मध्याह्न : ६ अप्रेल '४१

६

आ रहा महामानव, वो देखो !
दिशा-विदिशाओंमें हो रहा रोमाञ्च है
मर्त्य-धूलिकी घासपर ।
सूर्यलोकमें बज उठा शङ्ख है,
नर-लोकमें बज रहा जयडङ्क है –
आ गया महाजन्मका पुनीत लग्न ।
आज अमा-रात्रिके जितने थे दुर्ग-तोरण
धूलि-तले हो गये वे सभी भग्न ।
उदय-शिखरपर जाग रहा 'माभैः माभैः' रव
नव-जीवनके आश्वाससे ।
'जय जय जय रे मानव-अभ्युदय !' –
मन्द्रघोष हो उठा आकाशमें ।

'उदयन'
१ वैशाख १९९८

७

जीवन है पवित्र, जानता हूँ,
अचिन्त्य स्वभाव उसका,
अज्ञेय रहस्य-उत्सके —
पाया है प्रकाश उसने
किस अलक्षित पथसे,
मिलता न सन्धान उसका।
प्रतिदिन नवीन निर्मलताने
दिया उसे सूर्योदय
लक्ष योजन दूरसे
भरकर स्वर्ण-घटमें आलोककी अभिषेक-धारा।
दी वाणी उस जीवनने दिन और रातको,
रचा वन-फूलोंसे अदृश्यका पूजा-थाल,
आरतीका दीप दिया जाल
निःशब्द निस्तब्ध प्रहरमें।
निवेदन किया चित्तने
जन्मका प्रथम प्रेम उसे।
प्रतिदिनका सकल प्रेम
अपने ही आदि-जादूके स्पर्शसे
आप्त हो उठता है;
प्रियाको किया है प्यार मैंने,
प्यार किया फूलोंकी कलियोंको;
जिनका भी स्पर्श किया उन सबको —
बना लिया अन्तरतम।
जन्मके प्रथम मन्त्रमें लाते हैं अलिखित पत्र हम,
दिनपर दिन भरते ही रहते वे वाणी-ही-वाणीमें।

परिचय अपना गुँथता ही चलता है,
हो उठता है परिस्फुट चित्र दिनान्तमें,
पहचान जाता है अपनेको
रूपकार अपने ही स्वाक्षरमें,
और फिर मिटा देता है वर्ण उसका, रेखा उसकी
उदासीन चित्रकार स्याह-काली स्याहीसे ;
मिटाई नहीं जा सकती कुछ-कुछ सुवर्णकी लिपि,
ध्रुवताराके पास ही
जाग रही ज्योतिष्ककी लीला है ।

'उदयन'
२५ अप्रैल १९४१

८

विवाहके पाँचवें वर्षमें –
यौवनका निविड़ स्पर्श
गोपन रहस्य-पूर्ण
परिणत रस-पुञ्ज अन्तर-ही-अन्तरमें
पुष्पकी मञ्जरीसे फलके स्तवकमें
वृन्तसे त्वकमें
सुवर्ण-विभासे कर देता व्याप्त है ।
संवृत सुमन्द गन्ध अतिथिको घरमें बुला लाती है ।
संयत शोभा
पथिकके नयन लुभाती है ।
पाँच वर्षकी विकसित वसन्तकी माधवी-मञ्जरीने
भर दी सुधा मिलनके स्वर्णपात्रमें ;
मधु-सञ्चयके बाद
मधुपको कर दिया मुखर है ।

शान्त आनन्दके आमन्त्रणने
बिछा दिये आसन रवाहूत अनाहूत जनोंको।
विवाहके प्रथम वर्षमें
दिग-दिगन्तरमें
शहाना रागिनीमें बजी थी बाँसुरी,
उठी थी कल्लोलित हँसी भी —
आज स्मितहास्य खिल उठा प्रभातके मुँहपर
नीरव कौतुकसे।
बाँसुरी बज रही कनाड़ाकी गुरुगंभीर तानमें
सप्तर्षिके ध्यानके आह्वानमें।
पाँच वर्षके पुष्पित विकसित सुख-स्वप्नोंने
पूर्णताका स्वर्ग मानो ला दिया संसारमें।
पवन-वसन्त-राग आरम्भमें बज उठा था,
सुर और तालमें वह पूर्ण हो उठा आज;
पुष्पित अरण्य-पथपर प्रति पदक्षेपमें
नूपुरमें बजता है बसन्त-राग आज।

'उदयन'
प्रभात : २५ अप्रैल '४१

९

वाणीकी मूर्ति गढ़ रहा हूँ
एकान्त मनसे
बैठा निर्जन इस प्रांगणमें
पिण्ड-पिण्ड मिट्टी उसकी
बिखरी पड़ी है चारों ओर —
असमाप्त मूक
शून्यको ही देख रही निरुत्सुक।

गर्वित मृत्तिका पदानत मस्तक
झुका ही रहता है,
'क्यों' का उत्तर न दे सकता कुछ भी वह।
उससे भी कहीं ज्यादा शोचनीय बात यह —
पाया जो रूप किसी कालमें
उसका भी रूप, हाय, हो रहा क्रमशः विलीन
गतिशील कालकी अर्थ-हीनतामें
निमन्त्रण था कहाँ, पूछा उससे,
उत्तर न दे सका कुछ —
किस स्वप्नको बाँधनेको
ढोकर धूलिका ऋण
दिया दिखाई वह
मानवके द्वारपर ?
विस्मृत स्वर्गकी
किस उर्वशीके चित्तको
धरणीके चित्तपटपर
बाँधना चाहा था
कविने —
तुम्हें तो वाहनके रूपमें
बुलाया था,
चित्रशालामें रखा था यत्नसे,
न-जाने कब अन्यमनस्क हो भूल गया वह
आदिम आत्मीय तुम्हारी धूलिको,
असीम वैराग्यमें दिग्-विहीन पथमें
उठा लिया उसे अपने वाणी-हीन रथमें।
अच्छा है, यही अच्छा,
विश्वव्यापी धूसर सम्मानमें

आज पंगु फूलेका ढेर
प्रतिदिनकी सान्त्वना
कालके प्रति पदक्षेपमें
बाधा ही दे रही बार-बार,
किन्तु पदाघातोंसे, जीर्ण अपमानसे
पाती है शान्ति यह शेषमें
मिलती जब फिरसे धूलि अवशेषमें।

'उदयन'
प्रभात : ३ मई १९४१

१०

अपने इस जन्म-दिनमें आज 'मैं'-शून्य मैं—
चाहता हूँ बन्धु-जनोंको,
जिनके हाथके स्पर्शसे
मर्त्यके अन्तिम प्रीति-रससे
ले जाऊँगा जीवनका चरम प्रसाद,
ले जाऊँगा मानवका शेष आशीर्वाद।
शून्य झोली है आज मेरी;
मैंने उजाड़ कर दी है भरी झोली,
जो-कुछ भी देनेका था देकर,
कुछ भी यदि पाऊँ प्रतिदानमें—
स्नेह कुछ, क्षमा कुछ,—
तो, उसे मैं साथ ले जाऊँगा
भाषा-हीन अन्तके उत्सवमें।

'उदयन'
प्रभात : ६ मई १९४१

११

एक दिन रूपनरान-नदीके तीर
जाग उठा, जान गया –
यह जगत् स्वप्न नहीं।
रक्ताक्षरोंमें देखा
अपना रूप,
पहचान गया अपनेको –
आघात-आघातमें, वेदना-ही-वेदनामें ;
सत्य है कठोर जो,
किया प्यार कठोरको,
कभी किसीसे वह करता नहीं वञ्चना।
आमृत्यु दुःख ही की तपस्या है यह जीवन,
सत्यका कठोर मूल्य पानेको
मृत्युसे समस्त ऋण चुकानेको।

'उदयन'
शेषरात्रि : १३ मई '४१

१२

तुम्हारे जन्म-दिनके दान-उत्सवमें
विचित्र सुसज्जित है आज यह
प्रभातका उदय-प्राङ्गण।
नवीनके खुले हैं दानसत्र मानो असंख्य
पुष्प-पुष्पमें पल्लव-पल्लवमें।
प्रकृति परीक्षा कर देखती है
क्षण-क्षणमें भण्डार अपना,
तुम्हें सन्मुख रख पाया यह सुयोग उसने।

दाता और ग्रहीताका संगम करानेको
नित्य ही आग्रह है विधाताका,
आज वह सार्थक हुआ,
विश्वकवि उन्हींके विजयमें
देते तुम्हें आशीर्वाद —
उनके कवित्वके साक्षी-रूपमें
दिये हैं दर्शन तुमने
वृष्टि-धौत श्रावणके निर्मल आकाशमें।

'उदयन'
प्रभात : १३ जुलाई '४१

१३

प्रथम दिनके सूर्यने
किया था प्रश्न एक
सत्ताके नूतन आविर्भावमें —
'कौन हो तुम?'
मिला नहीं उत्तर कुछ।
वर्षों यों ही बीत गये,
दिवसका शेष सूर्य
शेष प्रश्न करता है
पश्चिम-सागर-तीरपर
निस्तब्ध सन्ध्यामें —
'कौन हो तुम?'
मिला नहीं उत्तर कुछ।

वास-भवन : कलकत्ता
प्रभात : २७ जुलाई १९४१

१४

दुःखकी अँधरिया रात
आई है बार-बार
मेरे इस द्वारपर ;
एकमात्र देखा था अस्त्र उसका
कष्टका विकृत मान, त्रासकी विकट भङ्गिमाएँ—
छलनाकी भूमिका अन्धकारमें ।

भयका नकली-चेहरा देख विश्वास किया जितनी बार
हुआ पराजय उतनी ही बार व्यर्थका ।
यह हार-जीतका खेल, जीवनकी झूठी माया यह,
शिशुकालसे विजड़ित है पद-पदमें विभीषिका,
दुःखमय परिहास-पूर्ण ।
भयका विचित्र है चलचित्र—
मृत्युका निपुण शिल्प है विकीर्ण अन्धकारमें ।

वास-भवन : कलकत्ता
सायाह्न : २९ जुलाई '४१

१५

अपनी सृष्टिका पथ कर रखा है आकीर्ण तुमने
विचित्र छलना-जालमें
हे छलनामयी !
मिथ्या-विश्वासका बिछाया जाल निपुण हाथसे
सरल जीवनमें ।
इस प्रवञ्चनासे महत्त्वको किया चिह्नित है ;
छोड़ी नहीं उसके लिए कहीं गुप्त रात्रि भी ।

तुम्हारा ज्योतिष्क उसे
जो पथ दिखाता है
उसकी अन्तरात्माका पथ है वह,
वह तो चिर-स्वच्छ है,
सहज विश्वाससे उसे वह
बनाये रखता है चिर-समुज्ज्वल।
बाहर भले हो वह कुटिल, अन्तरात्मामें है ऋजु,
इसीमें उसका गौरव है।
लोग कहते उसे 'विडम्बित' हैं।
सत्यको वह पाता है
अपने प्रकाश-धौत अन्तरमें।
कोई भी न कर सकता उसे प्रवंचित,
शेष पुरस्कार ले जाता वह
अपने भण्डारमें।
अनायास ही सह लेता जो जगत्की छलनाएँ
पाता वह तुम्हारे हाथसे
शान्तिका अक्षय अधिकार है।

अन्तिम रचना
वाम-भवन, जोड़ासाँको, कलकत्ता
प्रातःकाल साढ़े नौ बजे : बुधवार
३० जुलाई १९४१ : १४ श्रावण १३४८

इसी दिन (३० जुलाई) गुरुदेवके शरीरमें अस्त्रोपचार हुआ, और उसके दूसरे दिन श्रावणी-पूर्णिमा १३४८ (८ अगस्त १९४१) को उनका स्वर्गवास हो गया